UNIVERSAL LIBRARY
OU_186351
UNIVERSAL LIBRARY

Osmania University Lib

Call No. H294.5 R16G

Accession PGH 1018

Author राजेन्द्र सिंह, गौड़

Title गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना

This book should be returned on or befo
marked below. Vol. I

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना
प्रथम भाग

आलोचना व निबन्ध

लेखक

व्योहार राजेन्द्र सिंह

प्रकाशक

काशी नागरी प्रचारणी सभा

काशी

मुद्रक—भगन कृष्ण दीक्षित, दीक्षित प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम भाग

भारतीय दार्शनिक समन्वय

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना

प्रथम भाग

भारतीय दार्शनिक समन्वय

भूमिका			(१) से (३)
उपोद्घात		(आचार्य क्षिति मोहन सेन)	(४) से (२२)
प्रथम	अध्याय	वैदिक साहित्य में समन्वय	१ से १६
द्वितीय	"	आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय (१)	१७ से २३
		आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय (२)	२४ से ३९
तृतीय	"	शैवों और वैष्णवों की समन्वय वृत्ति	४० से ५९
चतुर्थ	"	इतिहास पुराण में समन्वय	६० से ८१
पंचम	"	आचार्यों का समन्वय	८२ से ११२
षष्ठ	"	शाक्तों की समन्वय शक्ति	११३ से १२९
सप्तम	"	राम और कृष्ण की परंपरा	१३० से १४३
अष्टम	"	संतों की साधना	१४४ से १६९
नवम	"	भक्तों की भावना	१७० से १८७
दशम	"	कृष्ण भक्तों की उपासना	१८८ से १९९
एकादश	"	संत कवियों की देन—लोक-भाषा और लोक-धर्म	२०० से २१२

भूमिका

भारतीय संत साहित्य का अध्ययन और अनुसन्धान मेरा प्रधान विषय रहा है। उसमें भी गोस्वामी तुलसीदास की ओर विशेष रुचि रही। उनके ग्रन्थों का अध्ययन करते समय उनकी उदार और समन्वय वृत्ति ने विशेष रूप से आकर्षित किया। अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भी उन्होंने दूसरे मतों को जिस उदारता की दृष्टि से देखा उसकी प्रशंसा ग्रियर्सन और कार्पेंटर सरीखे विदेशी विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से की। यह कहना भी अनुचित नहीं कि ईसाई और विदेशी लेखकों ने ही पहले पहल हमारा ध्यान अपने साहित्य और धर्म की विशेषताओं की ओर आकर्षित किया। उक्त लेखकों के अतिरिक्त मैं अपने मित्र स्वर्गीय डा: मेग्डूगल के अध्ययनपूर्ण ग्रंथ The Way of salvation in the Ramayan of Tulsidas से विशेष प्रभावित हुआ। उनसे व्यक्तिगत संपर्क होने के कारण विचारों के आदान प्रदान का भी अवसर मिलता रहा। गोस्वामी तुलसीदास का तुलनात्मक अध्ययन चलने लगा। उसके बाद उनकी दार्शनिक विचार धारा के अध्ययन के फलस्वरूप इस ग्रंथ के लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई। स्वर्गीय डाक्टर मेग्डूगल ही इसकी प्रेरणा के मूल थे और उनकी पुस्तक से इसमें काफी सहायता भी मिली। अत: सबसे पहिले उन्हीं का आभार मानना आवश्यक है।

तुलसीदास जी का अध्ययन करने के साथ उनके पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है। समन्वयवादी और परंपराप्रिय होने के नाते उन्होंने अपने पूर्व भारतीय

साहित्य का स्वयं आकलन करके उसी पर अपने संदेश का आधार स्थापित किया था। "नानापुराणनिगमागम संमतं यत्" आदि वाक्यों में उन्होंने इसका स्पष्ट निर्देश किया है। इसलिये उनके अध्ययन के साथ-साथ उनके पूर्ववर्त्ती साहित्य का अध्ययन भी चलने लगा। इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि समन्वय की भावना केवल तुलसीदास जी की ही विशेषता नहीं थी, वरन् वह भारतीय साहित्य में प्रारंभ से लेकर अंत तक ओत-प्रोत है।

पहले भारतीय समन्वय की इस परंपरा को केवल एक अध्याय में तुलसी-दर्शन की पूर्व-पीठिका के रूप में देने का विचार था। किन्तु सहस्रों वर्ष व्यापी इस साहित्य की विशालता के कारण उस विचार धारा को एक अध्याय में सीमित करना असंभव हो गया। वह समन्वय धारा मत्स्यावतार के समान इस प्रकार बढ़ती गई कि उसने एक अलग ग्रंथ का रूप धारण कर लिया। अतः यह आवश्यक हो गया कि वह "भारतीय दार्शनिक समन्वय" के नाम से "गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना" के प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया जाय। यही इस ग्रंथ का इतिहास है।

इस भाग में भारतीय समन्वय साधना की परंपरा का दिग्दर्शन कराने के साथ ही साथ प्रारंभिक काल से लेकर मध्ययुग तक भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साहित्य का धारावाहिक इतिहास भी प्रस्तुत हो गया। हिंदी साहित्य के इस बड़े अभाव की पूर्ति में यदि यह लघु प्रयत्न कुछ भी समर्थ हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

इस विषय पर शांति निकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन से बढ़ कर शायद ही किसी का अध्ययन हो। अतः उनसे इस

पुस्तक की भूमिका लिखने की प्रार्थना की गई जिसे उन्होंने स्वीकार भी कर लिया। किंतु प्रकाशन की शीघ्रता के कारण मैंने आचार्य की बंगला पुस्तक "भारतीय संस्कृति" से कुछ अंश लेकर उपोद्घात के रूप में दे दिया है जो कि सारे ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को बड़ी विशेषता के साथ प्रगट करता है।

यह ग्रंथ कई वर्ष पहिले लिखा जा चुका था, यद्यपि उसमें परिवर्तन और परिवर्धन प्रकाशन के समय तक होते चले गये। किंतु यदि काशी नागरी प्रचारणी सभा इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की सुविधा न देती तो वह और भी कई वर्षों तक पड़ा रहता, इसमें संदेह नहीं। अतः उसका आभार मानना भी आवश्यक है। इस मुद्रण की कठिनाई के युग में इसके मुद्रित कराने का भार मुझे सौंपा गया था। अतः उस में जो विलम्ब हुआ उसका दोष भी मुझे स्वीकार करना चाहिये।

हर्ष यह है कि यह ग्रंथ भारतीय समन्वय साधना के पावन संगम स्थल और सनातन प्रतीक प्रयाग में मुद्रित हो रहा है जो कि अपनी त्रिवेणी के रूप में सदा से भारतीय समन्वय का संदेश वहन करता आया है। आज उस संदेश को नवीन रूप से प्रचारित करने की जितनी आवश्यकता है उतनी शायद पहले कभी नहीं रही। इसलिये यह ग्रंथ समयोपयोगी भी कहा सकता है। आज जब कि विचार रूपी सूर्य को पक्षपात और कट्टरता का ग्रहण लग चुका है, तब इस प्रकार की कृतियों से वह पुनः प्रकाशित होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

प्रयाग
वैशाख कृष्ण ३० सं २००५
सूर्य ग्रहण

व्योहार राजेन्द्र सिंह

उपोद्घात

(ले० आचार्य क्षितिमोहन सेन)

सब मनुष्य एक भगवान् की संतान हैं, पर सभी देशों में मनुष्यों के बीच नाना भावों से नाना प्रकार के भेद-विभेद वर्त्तमान हैं। किन्तु सबसे अधिक सबल मनुष्यों के बीच साम्य और अभेद की वाणी उच्चरित हुई है इस भारत में। भारत के महापुरुष सब मानवों के बीच नाना भेद-विभेद अंत करने वाली वाणी की घोषणा कर गये हैं। इसीलिये देखा जाता है

कि भारत में, जो कुछ है, और जो कुछ होना उचित है, अर्थात् वर्त्तमान, भूत और भविष्य के बीच में एक बड़ी भारी असंगति बराबर चलती आती है।

भारत के नाना भेद-विभेदों के मध्य योग स्थापन के लिए युग-युग में भगवान् ने अपने एक के बाद एक योग्यतम साधकों को भेजा है। वह योग आज भी संपूर्ण नहीं हुआ। जितने समय तक इस योग स्थापन की आवश्यकता रहेगी उस समय तक वे अपने श्रेष्ठ साधकों की इस परंपरा को इस देश में भेजते रहेंगे।

महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, वसव, रामानंद, रविदास, कबीर, नानक, चैतन्य, दादू आदि प्राचीन युग के सब योग साधक महापुरुषों का दल यही काम कर गया है और आगे भी करेगा। युग-गुरु रवीन्द्रनाथ ने कहा है—भारतवर्ष की इतिहास धारा की यही मर्म कथा है।

भारत में भगवान् ने वैचित्र्य ही को चुना है। इसीलिए यहाँ कोई प्रबल सभ्यता या संस्कृति ने अपेक्षाकृत दुर्बल अन्य सभ्यता या संस्कृति को नष्ट नहीं किया। सभी पास-पास बन्धु भाव से निवास करती आई हैं। विभिन्नता होने ही से विद्वेष-बुद्धि क्यों होनी चाहिये ? यहाँ तो भगवान् ने चाही है—सकल साधनाओं के बीच मैत्री और सकल संस्कृतियों के मध्य समन्वय साधना। जगत् में और कहीं भी इस प्रकार की बात नहीं देखी जाती। वहाँ एक धर्म या संस्कृति ने दूसरे सब दुर्बल धर्मों और संस्कृतियों को मारकर समस्या को सरल बना दिया है। वह सरल पथ भारत का नहीं है।

भारत के शास्त्र में जो सारतम बात है उसीसे भारतीय साधन का परिचय मिलता है। प्रदीप का परिचय उसकी शिखा में है और मनुष्य का परिचय उसके प्राण में।

इस लोक को लेकर जो साधना चलती है वह है—संस्कृति और अनंत लोक को लेकर चलने वाली साधना है—धर्म। भारत की संस्कृति और धर्म दोनों में अनेक युग के अनेक मानव मंडली का दान घुल-मिल गया है। संस्कृति में धर्म प्रवर्त्तकों का परिचय सहज में मिलता है। उसमें देखा जाता है कि भारत में हिन्दू धर्म कोई विशेष युग के किसी विशेष महापुरुष द्वारा प्रचलित नहीं हुआ। इसीसे हिन्दूधर्म एक प्रकार से अपौरुषेय धर्म कहा जा सकता है। इस धर्म में भारत में जितनी संस्कृतियाँ और धर्म आये सब-का-सब दान एकत्र मिलित हुआ है। अतः इसकी जन्म-भूमि के भौगोलिक नाम से भारत-धर्म कहना ही अधिक संगत होगा। भारत को हिन्द भी कहा जाता है। इस देश की सर्व संस्कृतियों के समन्वयात्मक विधाता के निर्देश से जो धर्म युग-युग की साधना से गढ़ा गया है उसे हिंद (अर्थात् भारत का) हिंदू (अर्थात् भारतीय) धर्म कहना ही ठीक है। धर्म साधना में इस समन्वय को ही महात्मा कबीर ने "भारत की तपस्या" कहा है। इसीसे उनका पंथ भारत पंथ कहलाया।

वह "भारत पंथ" आज भी संपूर्ण साधित नहीं हुआ। महापुरुष इसी भारत पंथ की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग कर गए हैं। वर्त्तमान युग या माध्य युग ही में नहीं किंतु भारत के आदि काल से ही भगवान् के निर्देश से यह साधना निःशब्द निरंतर चल रही है।

भारतीय संस्कृति की विचित्रता

जीव का परिचय उसके भौगोलिक निवास स्थान में मिलता है किंतु मनुष्य में जीव और शिव दोनों का संमिलन हुआ है। इसलिये उसका परिचय भूगोल में नहीं मिलता। ऋषियों ने कहा है कि जीवों का भूमि पर विसर्जन किया गया:—

"जीवान् विससर्ज भूम्यान्" ।(१) किंतु मनुष्य को भूमि पर छोड़ने से काम नहीं चलेगा। मनुष्य के मनुष्यत्व का उद्भव हुआ उसकी संस्कृति में। इसलिये मृण्मय लोक छोड़कर चिन्मय जगत् ही में मनुष्य का पूर्ण परिचय है। स्थान गत परिचय उसकी असली बात नहीं। गायत्री मंत्र में पहिले स्थान वाचक "भूर्भुवः स्वः" कहने के बाद ही विश्वामित्र को कहना पड़ा परम देवता के साथ धीशक्तिगत के योग की चिन्मय वार्ता:—

"भर्गो देवस्य धीमहि धीयो यो नः प्रचोदयात्" ।(२) कारण यह कि चिन्मय जगत् ही में यथार्थ मानवत्व की उत्पत्ति और संस्थिति है; भूगोल के जगत् में नहीं। इसलिये देखा जाता है कि एक ही भौगोलिक पृथ्वी पर वास करने पर भी संस्कृति और इतिहास की अंतहीन विचित्रता ही मनुष्य की विचित्रता है।

पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास में हम देखते हैं कि जहाँ भी वह गई उसने स्थानीय पुरातन सभ्यता को ध्वंस और निर्मूल करके ही तृप्ति पाई। यह ध्वंस का व्यापार केवल सभ्यता में पिछड़ी जातियों ही में नहीं, अमेरिका सरीखे सुसभ्य देश में भी पाया जाता है। अमेरिका "माया" और "आज-तेग" सभ्यता को उच्छेद किये बिना निवृत्त नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति का इतिहास भिन्न प्रकार का है। यहाँ उस प्रकार दूसरों को उच्छेद करना संभव नहीं था। भारतेतिहास के विधाता का गूढ़ अभिप्राय दूसरा ही था।

भारत में आर्यों के आगमन के पूर्व द्रविड़ सभ्यता वर्त्तमान थी। उसे उन्होंने नष्ट नहीं किया। द्रविड़ों ने भी अपनी पूर्व

---

(१) महारामायण उपनिषद् १ ४

(२) ऋग्वेद ३–६२–१०

सभ्यताओं को नष्ट नहीं किया था। इस प्रकार बहुत सभ्यताओं और संस्कृतियों की मिट्टी के स्तरों पर स्तर जमने से धीरे-धीरे भारत का संस्कृति-लोक गढ़ा गया है।

यहाँ किसी ने किसी को निर्मूल नहीं किया। जान पड़ता है विधाता ने वैचित्र्य ही के बीच भारत में योग साधना को चुना है। अति उन्नत और अति अनुन्नत साधना यहाँ पास-पास बसती हैं। धर्म और साधना के तत्व-जिज्ञासुओं के लिये भारत के समान उत्तम विचार क्षेत्र दूसरा नहीं। यहाँ अग्रसर और पिछड़ी संस्कृतियों के दृष्टांत एक ही स्थान पर मिलेंगे। यहाँ कई प्रकार की साधनाओं का इंगित पाया जाता है; और इसीलिये इस देश की धर्म संस्कृति की संपद् नाना विचित्र ऐश्वर्यों से भरपूर है।

ज्ञानालोचना के लिये इस प्रकार के क्षेत्र में कितनी ही सुविधा क्यों न हो किंतु राष्ट्रीय संहति तथा शक्ति के पक्ष में इस प्रकार की अवस्था सांघातिक है। शक्ति का मूल है संहति। पशु भी इस बात को जानते हैं। इसीलिये वे दल-बद्ध होकर शक्ति लाभ करते हैं। मनुष्य की प्रधान संपत्ति है उसकी संस्कृति। संस्कृतिगत ऐश्वर्य के लिये चाहिये—व्यक्तित्व और वैचित्र्य। पशु, संहति के ऊपर नहीं उठ पाते; और मानवी संस्कृति का गूढ़ रहस्य है—व्यक्तित्व।

किंतु राष्ट्रीय जीवन में महत्व है संहति को। वहाँ व्यक्तित्व एक बाधा मात्र है। पर संस्कृति के क्षेत्र में व्यक्तित्व का वैचित्र्य ही सर्वश्रेष्ठ संपत्ति है। इसीसे राष्ट्रीय शक्ति का मूल पशु ही रह गया है।

हमारे देश में नाना जाति, नाना श्रेणी, नाना विभेद, रह गये हैं। ये सब संस्कृति में सहायक होकर भी राष्ट्रीय जीवन में महा समस्या उपस्थित करते हैं। यूरोप ने तो पूर्ववर्ती

सभ्यताओं का उच्छेद कर इस समस्या को हल कर लिया और विचित्रता मूलक हमारा देश इसी समस्या के कारण आज नाना प्रकार से विडम्बित और निग्रहीत हो रहा है। इस सबके मूल में है—किसी को निर्मूल न करने की हमारी शुभ और उदार मनोवृत्ति।

नाना संस्कृतियों के पास-पास रहने से ऊँच-नीच का भेद भाव आ ही जाता है। भारत में भी युग-युग से वही भेद आता रहा। जो महापुरुष इस भेद-विभेद, विच्छेद और विद्वेष के बीच में प्रीति और समत्व का योग-सेतु निर्माण कर पाये वे ही हमारे महापुरुष हुए। गुह-मित्र राम और आभीर बंधु कृष्ण को भारत नित्य स्मरण करता है; किंतु बड़े-बड़े विजेताओं को वह भुला देता है। अंतहीन भेद के बीच एक अखंड महान् समन्वय की महातपस्या का भारत भाग्य-विधाता चिर दिन से भीतर-ही-भीतर निर्देश करते चले आये हैं।

आर्य-अनार्य संस्कृतियों का मिलन

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा आदि से पता लगता है कि हमारी अति प्राचीन सभ्यता कितनी उच्च थी। वैदिक आर्यों ने उनको पराजित किया। इसका कारण यही था कि वेद पूर्व भारत में लोहा और घोड़ा नहीं था। उक्त स्थानों में ये चीजें नहीं पाईं गईं, पर वैदिक आर्य इनमें दक्ष थे।

वैदिक सभ्यता का मूल स्थान था—यज्ञ वेदी; और वेदपूर्व द्रविड़ सभ्यता का मूल था - तीर्थ। इसी कारण वह "तैर्थिक सभ्यता" कहलाई। इस तैर्थिक सभ्यता से उन्नत भाव लेकर वैदिक सभ्यता भी ऐश्वर्यमय हो उठी। कर्मकांड के लिये हिंसा अनिवार्य थी; पर धीरे-धीरे, निष्काम धर्म, अहिंसा आदि उच्च

भाव उठने लगे। निरामिष आहार, भक्ति, जन्मांतरवाद, मायावाद, योग साधना, वैराग्य साधना; व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा आदि बड़े-बड़े आदर्श क्रम-क्रम से आने लगे। भक्ति और प्रेम ने द्रविड़ सभ्यता के प्रभाव ही से भारतीय साधना में प्रथम स्थान पाया। प्रधानतया इन दोनों सभ्यताओं के संगम तीर्थ पर ही परवर्ती काल में परम ऐश्वर्यमय हिन्दू धर्म का जन्म हुआ। सकाम स्वर्ग लाभ की जगह निष्काम मुक्ति लाभ तथा कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्तिवाद की प्रतिष्ठा हुई। कहीं-कहीं प्राकृत भूतवाद के साथ-साथ तंत्र तथा मंत्र शास्त्र का योग होने लगा। इस मिश्रण में अच्छे-बुरे सभी का मिश्रण हुआ। अथर्ववेद में प्राकृत संस्कृति और वैदिक संस्कृति के गंभीर योग का परिचय मिलता है। फलस्वरूप, देवता के बदले मनुष्य तथा स्वर्ग के बदले पृथ्वी के प्रति जो अनुराग प्रगट हुआ वह वैदिक साहित्य में अपूर्व है।

आर्यों ने जब नाग आदि अनार्य जातियों को खदेड़ा तब वे जलाशयों के किनारे रहने लगीं। दोनों जातियों में विवाह संबंध भी होने लगे। पहले इनकी संतान पिता की जाति की होती थी क्योंकि आर्यों में पुरुष प्रधान था; वे 'बीज प्राधान्य' मानते थे। बाद में द्रविड़ जाति के मातृ-प्रधान समाज तंत्र के प्रभाव से माता की जाति से सन्तान चलने लगी। यह 'क्षेत्र प्राधान्य' अनार्य प्रभाव का फल है।

तीर्थ (जल) के साथ जिन वस्तुओं का संबंध है वे अधिकांश अनार्यों से ली गई हैं। जाल, नौका, मछली, शंख, सिंदूर आदि जल समीपी नाग जाति के संपर्क से प्राप्त हुईं।

नृत्य, गीत, वाद्य भी आर्यों ने अनार्यों से ग्रहण किये। ब्राह्मणों में वेदगान के सिवा नृत्य-गीत निषिद्ध था। शूद्र नारियाँ

ही ये काम करती थीं। भागवतों ने भक्तिपूर्ण गीत-नृत्य का प्रवेश समाज में कराया।

संमिलन का अपूर्व फल

पृथ्वी-पूजा और ६४ कलाएँ

ऋषियों की ब्राह्मणी और शूद्रा दोनों पत्नियों का उल्लेख मिलता है। ऐसी कथा है कि 'पृथ्वी पुत्री' (शूद्रा) पत्नी के पुत्र को यज्ञ से वंचित रखने के कारण उसने पृथ्वी की उपासना कर अपने पुत्र 'ऐतरेय' (इतरा के पुत्र) को विद्वान् बनाया। यही "ऐतरेय ब्राह्मण" का रचयिता "महीदास" कहलाया। इसमें प्राचीन स्थितिशील धर्म के स्थान पर गतिशील धर्म का उपदेश दिया। इसका उदाहरण है उसका "चरैवैति" नामक उत्साहपूर्ण मंत्र। (३) शिल्प साधना द्वारा आत्मा की प्राप्ति का उपदेश भी उसने दिया (४) शिल्प के संबंध में इससे ऊँची बात कहीं सुनी नहीं गयी।

यह सब महावाणी उच्चारण करने वाले महर्षि ऐतरेय आर्य-अनार्य संस्कृति के अपरूप और महनीय समन्वय थे। उन्होंने कहा है कि अनार्य पृथ्वी की संतान हैं। आर्य-अनार्य मिलन से जिन विद्याओं का ज्ञान हुआ उनसे पृथ्वी का घनिष्ट संबंध है। ६४ कलाओं की तालिका देखने से ही यह स्पष्ट हो जायगी।

श्राद्धोत्पत्ति

हमारे दैनिक कृत्यों, आचार, अनुष्ठानों में, धर्म-कर्मों में आर्य-अनार्य दोनों धाराओं का समन्वय पाया जाता है। हमारे धर्मानुष्ठान में दो पक्ष हैं—देवपक्ष और पितृपक्ष। देवों के लिये हव्य प्रदान वैदिक है और पितरों के लिये कव्य परवर्त्ती।

---

(३) ऐतरेय ब्राह्मण १-१५-१-५

(४) वही ६-५-१

आर्य मृत देह को गाड़ते थे। अनार्यों के संपर्क से, काष्ठ की अधिकता के कारण, दाह प्रथा चली। गंगा आदि नदियों में अस्थि-विसर्जन भी अवैदिक प्रथा है। श्राद्ध में मातृ-पक्ष के संबंधियों की प्रधानता (५) बतलाती है कि यह प्रथा द्रविड़ों से ली गई है। अशौच ब्राह्मण में कम और शूद्रों में अधिक होता था। श्राद्ध का विशेष स्थान है तीर्थ। (६) श्राद्ध के दिन वैदिक संध्या करने का निषेध है। श्राद्ध करते समय यज्ञोपवीत अप-सव्य (वाम) करने का विधान है। (७) प्राचीनावीती (दक्षिण-मुख) होकर पितृकार्य किये जाते हैं। (८)

श्राद्ध में ब्राह्मणों की अपेक्षा योगियों का भोजन श्रेष्ठ है। (९) शिव भक्त तथा विष्णु भक्त दोनों ही श्राद्ध में विशेष मान्य हैं। (१०)

देव यज्ञ के साथ समकक्ष करने के लिये श्राद्ध को पितृ यज्ञ या प्रेत-यज्ञ कहा गया है। वराह पुराण में कथा है कि निमि ने अपने पुत्र आत्रेय की मृत्यु का शोक दूर करने के लिये श्राद्ध किया था जिसे पहले कोई देवता या ऋषि नहीं करते थे। इस 'अशुचि निवाप कर्म' के लिये उन्हें पश्चाताप भी हुआ। (११) इस पर ब्रह्मा ने श्राद्ध को एक अतिरिक्त यज्ञ कह कर उनका समाधान कर दिया। (१२) श्राद्ध का दान या भोजन

---

(५) कूर्म पुराण उपरिभाग २१-२०

(६) वही २०-३१-३६

(७) गरुड़ पुराणः पूर्व खंड २२२-४

(८) कूर्म पुराणः उपरित्र २२-४५

(९) वराह पुराणः १८-५०

(१०) कूर्म पुराणः उपरिः २१ ९

(११) वराह पुराणः १८७-४१-४३

(१२) वही १८७-७१

अप्रशस्त माना जाता था। पीछे देवयान के साथ पितृयान भी स्वीकृत हुआ। अमावास्या पितृ-तिथि, गया पितृ-तीर्थ तथा श्मशान पितृ-कानन मान लिया गया। श्मशान के शब्दार्थ (१३) ही से प्रगट होता है कि पहले शव भूमि में गाड़े जाते थे। बाद में दाह-स्थान भी श्मशान कहलाने लगे। वैदिक युग में दाह कर्म भी प्रचलित हुआ।

वेदबाह्य आचार संस्कार

हिन्दू धर्म में विवाह आठ प्रकार के माने गये हैं। ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच (१४) इनमें गांधर्व विवाह ही प्राचीनतम जान पड़ता है। जिसे स्वेच्छा से वरण किया जावे वही वर है। इनमें प्रथम पांच वैदिक और शेष अवैदिक विदित होते हैं। कन्या की अपेक्षा वर-पक्ष का प्राधान्य द्रविड़ संस्कृति के ऊपर आर्य संस्कृति की विजय है। विवाह में अग्नि की साक्षी आर्य-प्रथा है।

अन्नप्राशन गर्भाधान, पुंसवन आदि अवैदिक हैं; उपनयन वैदिक है। संस्कारों में भी अपूर्व समन्वय है। उपनयन में संध्या, गायत्री के साथ तांत्रिक संध्या भी सम्मिलित कर दी गई। सभी जगह अवैदिक तांत्रिक प्राकृतादि धर्मों का प्रभाव देखा जाता है। महायान बौद्ध धर्म के प्रभाव से हमारी दिन-चर्या भी बदल गयी। हमारे पूजा—पार्वण, श्राद्ध-तर्पण, व्रत-उपवास, कृच्छ्र-तपस्या, तीर्थ-यात्रा सभी उस युग के प्राकृत धर्म के अवशेष हैं। याग यज्ञ का स्थान देव देवी पूजा ने ले लिया।

शिव और विष्णु

उन सब देव देवियों के साथ आर्यों का कम झगड़ा नहीं

---

(१३) श्मानः शवाः शेरते यत्र

(१४) मनु० ३-२१ याज्ञवल्क्य १-५२-६१

हुआ। उस युग में भृगुवंश वैदिक आदर्श का समर्थक था। इसीसे शिव विरोधी दक्ष यज्ञ में भृगु ने इतना उत्साह दिखलाया था। देवानुचरों द्वारा उनकी दुर्दशा भी हुई थी। भृगु ही ने विष्णु का अपमान करने के लिये उनके वक्ष पर पदाघात किया था। वह 'भृगुलता' अभी तक विष्णु-वक्ष से लुप्त नहीं हुई। पहले विष्णु इन्द्र से कनिष्ठ माने जाते थे; (उपेन्द्रः इन्द्रावरजः) क्रमशः इन्होंने इन्द्र का स्थान ग्रहण कर लिया।

ऋग्वेद में 'शिश्न देव' का उल्लेख अनेक बार मिलता है। (१५) कई लोग कहते हैं कि यह लिंग पूजा ही है।

कथा है कि एक बार आश्रम में सुन्दर वेष धारी शिव को देखकर मुनि पत्नियाँ उन पर मोहित हो गईं। मुनि लोगों ने मार-मार कर उनका अंग-भंग कर दिया किंतु पत्नियों के आग्रह से लिंग पूजा शुरू कर दी। (१६) कूर्म पुराण की कथा में इतना अंतर है, कि विष्णु और शिव दोनों सुंदर वेश धारण कर विचरण करते थे। (१७) स्कंद पुराण (माहेश्वर खण्ड ४०६) लिंग पुराण (पूर्वभाग ३७अ०) वायु पुराण (पू० ५५अ०) तथा शिव पुराण में भी यह कथा वर्णित है।

इनसे जान पड़ता है कि मुनि पत्नियाँ शिव पूजा के मूल में हैं। शिव थे शूद्रों के देवता। शिव शबर व किरातों द्वारा पूजित थे, किरातवेशी शिवानी थीं शबरी मूर्ति; यह कथा नाना पुराणों में है। आर्य जब भारत में आये उनके साथ नारियों की संख्या थी कम; अतः मुनियों ने अनार्य कन्याओं से विवाह किया। इसीसे ब्राह्मण पत्नी होते हुए भी वे नारियाँ शूद्रा थीं। इन मुनि पत्नियों ने अपने पैत्रिक उपास्य देवता शिव को नहीं

---

(१५) ऋग्वेद: ७-२१-५ और १०-९९-३

(१६) वामन पुराण: अध्याय ४-३-४४

(१७) कूर्म पुराण: १७-१३-१७

छोड़ा। पहले मुनियों ने बाधा दी पर पत्नियों द्वारा चारों ओर से प्राकृत धर्म उनमें भी घुस गया। गण देवताओं के प्रचण्ड स्रोत को बहुत चेष्टा करने पर भी वे नहीं रोक सके।

अभी तक कई जातियों में शूद्र देवता की प्रतिष्ठा स्वयं न करके पुरोहित द्वारा कराई जाती है। (१८) इससे प्राचीन शूद्र देवता के विरोध की बात याद आती है।

ऋग्वेद में शिव पूजकों का उल्लेख मिलता है। गणपति विघ्नकर्त्ता से विघ्ननाशक बन गये। हव्य कव्य मंत्रों में असुर दानव (यक्ष) राक्षस, पिशाच, यातुधान सब मिल गये।

चारों ओर की अगणित मानव मंडली के साथ क्रमागत विरोध कितने दिनों चल सकता था? क्रम-क्रम से उनके देवताओं की पूजा को यज्ञ के आरंभ में स्वीकार करके यज्ञों को निर्विघ्न कर देना ही बुद्धिमानी का काम था। इसलिए यज्ञा-रंभ में विघ्न-नाशन गण देवता, अर्थात् प्राकृत जनों के देवता, गणेश की पूजा प्रतिष्ठित हुई। होमाग्नि के पास शालग्राम शिला को स्थान मिला। पश्चिम भारत में कार्य आरम्भ में हनुमान जी की पूजा चल पड़ी। यजुर्वेद(१६) तैत्तिरीय संहिता(२०) काठक संहिता (२१) आदि में इसी कारण रुद्र और शिव को स्वीकार कर गण-चित्त को प्रसन्न करने की प्रार्थना की गई। अथर्ववेद (२२)में भी अनेक स्थलों पर इसी चेष्टा का परिचय मिलता है।

---

(१८) Bhattacharya : Hrindu Tibes and Castes pp. 19-20

(१६) १६-४० से ४७

(२०) ४-५, १-११

(२१) १०-११-१६

(२२) ४-२६, ७-४२, १-६२ इत्यादि।

ये सब अवैदिक देवता और आचार सब घुल-मिल कर वैदिक ही कहे जाते हैं। देवी माहात्म्य में देवी को वेदवंदिता कहा गया है। परम पंडित तुलसीदास जी ने रामविरोधियों का निरसन करते समय राम भक्ति पथ को "श्रुति सम्मत हरि भगति पथ" कहा है। (२३)

इस प्रकार आर्य साधना, आर्य पूर्व साधना और आर्येत्तर साधना, अनेक नाना धारायें एक में मिल गई हैं। अथर्ववेद के युग में आर्य सभ्यता के साथ आर्य पूर्व सभ्यता का भरपूर मिलन हुआ। बाद ग्रीक सभ्यता और मध्य एशिया की संस्कृतियों से इस देश का परिचय हुआ। तब भागवतों ने सब संपत्ति के साथ उस मिलन के उत्सव को सर्वांग सुंदर बना दिया। जब ईसाई साधक भारत में आये तब उनके साथ भी द्रविड़ भक्ति और प्रेम ने मिलन किया।

भागवतों की उपासना—एक को छोड़कर दूसरे देव की उपासना न करना आदि महान् सत्यों का प्रचार उन्होंने जारों से किया। इस मत के प्रबल प्रवर्तक थे स्वयं श्रीकृष्ण जिन्होंने इन्द्र की पूजा निषेध कर कर्म का महत्त्व स्थापित किया। (२४) श्रीकृष्ण जी ने जो बात कहीं वह किसी भी वैज्ञानिक के मुख से निकल सकती है। भागवतों ने भगवान् को ही सार समझकर शास्त्र को गौण कर दिया है; क्योंकि हरि सर्व वेद मय है। (२५) बाहरी शास्त्रों पर निर्भर करके अपने अंतर के अलोक पर निर्भर करना ही श्रीकृष्ण का मत था। गुरु के संबंध में भी उन्होंने कहा कि अपनी आत्मा ही

(२३, रामचरित मानस १५६

(२४) भागवत १०-२८

(२५) ,, ९-११-१

अपना गुरु है—'आत्मनो गुरुरात्मैव।' (२६) इस प्रकार श्रीकृष्ण के समान स्वाधीन मतवादी इस समय भी दुर्लभ है।

भगवान् की आराधना में सबको बराबर अधिकार है। यह बात भागवतों में बहुत जोरों से प्रचार की। धर्म व्यवस्था में भी भागवत खूब उदार थे। अन्नादिक विभाग की व्यवस्था में उनकी समदृष्टि सभी युगों के लिये प्रसंशनीय रहेगी। सब जीवों में यथा योग्य अन्नादिक का सम विभाग ही धर्म है। (२७) आवश्यकता से अधिक जो संग्रह करता है उसे चोर कहा गया है। (२८)

शैव धर्म में भी यही बात पायी जाती है। वसव ब्राह्मण थे। वे ही लिंगायत संप्रदाय के आदि गुरु थे। उनका उद्भव सन् ११०० ईस्वी के बाद हुआ। इनके मत में भी बहुत से पुरातन आचार विचार निंदित समझे गये। ये लोग जाति भेद शास्त्र बंधन आदि कुछ नहीं मानते। भक्ति और शरणागति ही इनकी दृष्टि में सबसे महान् वस्तुएँ हैं। उनके पूर्व अभिनव गुप्त आदि के मतों में भी वाह्य आचार त्याग कर भीतर की वस्तु को सार कहा गया और समाज की कृत्रिम व्यवस्था को अमान्य समझा गया है।

वाह्याचार और भाव भक्ति—वैष्णवों ने कहा दूसरों को मान दो पर स्वयं मान मत चाहो; भेद बुद्धि छोड़ो; भगवान् को केवल आकाश में मत रक्खो; संसार में उसका प्रतिष्ठान करो।

शैवभक्ति संप्रदाय प्रवर्त्तक वसव ने कहा—"जाति का

---

(२६) ,, ११-७-२०
(२७) ,, ७-११-१०
(२८) ,, ७-२४-८

अहंकार छोड़ो ; देवों का नाम मुख से उच्चारण करने में कोई लाभ नहीं। उसे जीवन में वहन करो; स्वयं जंगम देवालय बनो।"

किंतु कुछ काल बाद वैष्णव भी इस आदर्श को भूल गये और भगवान् को संसार में प्रतिष्ठित करने के बदले ठाकुर को मन्दिर में बंदी कर दिया। बाकी संसार में इसका प्रवेश निषिद्ध हो गया। जंगमों ने भी प्रत्येक के गले में शिव-लिंग लटका कर जीवन में भगवान् को वहन करने का हुकुम तामील किया !

भागवतों ने कहा है :—

जो भी अनन्य होकर भजन करते हैं वे ही भक्त है। (२६) आर्येतर, शक, किरात, हूण, आंध्र, पुलिंद, आभीर, यवन, खस आदि जातियाँ इसी भक्ति द्वारा कृतार्थ होने की अधिकारी है।(३०) यह सत्य भली भाँति प्राचीन है: लोग इसे जब भूल गये: तब वह फिर से प्रचारित हुआ। (३१) दैत्य कुलज प्रहलाद ने निष्काम भक्ति के विषय में कहा है कि "भक्ति में कोई फलाकांक्षा होना भक्ति का अपमान है। (३२) ध्रुव ने भी श्रद्धा भक्ति की बात बड़े सुंदर भाव से कही है। ३३ गीता में भी भक्ति की चर्चा बड़े उदारताभाव से कही गई है। (३४) श्वेताश्वतर उपनिषद में भी भक्ति की चर्चा है। महाभारत शांतिपर्व में भी भक्ति का प्रसंग आता है। (३५)

(२६) भागवत ११-११-३३
(३०) " २- ६-१७
(३१) " ११-१४-३
(३२) " १-१०-६१
(३३) " ४-६—

(३४) गीता ६-२६-११ ५४ १८ ३६-१८-५५
(३५) महा- ६-२३

रामानंदी धारा की सम-दृष्टि

भारत की दुर्गति के दिनों में नामदेव रामानंद आदि भक्तों का आदर हुआ। वाह्य आचार व्यवहार की व्यर्थता सभी को समझने के लिये उन्होंने निषिद्ध किया यही वाह्य आचार जो हिन्दू-मुसलमानों के मिलन में बाधक था वे अंतर की भक्ति-प्रेम में ही मिल सके थे।

रामानंद स्वयं ब्राह्मण थे और उनका पूर्व संप्रदाय था रामानुज प्रवर्तित पंथ। किंतु स्वयं को भार मुक्त करके रामानंद पार हो गये। मुक्त पुरुष रामानंद ने वाह्य आचार छोड़ा। वे संस्कृत को छोड़ कर लोकभाषा में उपदेश करने लगे। तब तक साधना ब्राह्मणों ही तक सीमित थी; उन्होंने सभी को साधना प्रदान की। आचार का धर्म छोड़ कर वे भक्ति का धर्म प्रचार करने लगे। कबीर की धारा ही में दादू, रज्जब, सुंदर दास, आदि हुए। सुंदर दास वैश्य थे; दादू और रज्जब मुसलमान धुनिया। पर भक्तों की जाति के परिचय से क्या लाभ? भक्ति ही उनका यथार्थ परिचय है। उत्तर भारत के महा-गुरु थे कबीर। परवर्ती सब संत मत अल्पाधिक कबीर के ही मतद्वारा प्रचारित हुए। राजपूताना में सन् १५४४ ईस्वी में दादू ने जन्म ग्रहण किया। उनके मत से सब घर में एक ही आत्मा है:—

सब घट एकै आत्मा क्या हिन्दू मुसलमान।

उनके हृदय से अल्लह और राम का भेद मिट गया था:—

अल्लह राम छूटा भ्रम मोरा।

हिन्दू तुरुक भेद कुछ नाहीं देखहुँ दर्शन तोरा।

साम्प्रदायिक भेद-रहित पंथ ही इनका पूर्ण पंथ है:—

द्वै पथ रहित पंथ गहि पूरा। (३६)

---

(३६) दादूदयाल की बानी पृ० ३४१

सब ही पंथ-भगवान में जाकर मिलते हैं:—यह बात बार-बार मध्य युग के साधक कह गये हैं। संप्रदाय होने पर भी मनुष्य के बीच यह अभेद दर्शन मध्य युग की विशेषता है। जो जाति भेद भारत की प्रधान समस्या है वही जाति भेद उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। कबीर ने कहा:—

गुपुत प्रगट है एकै मुद्रा, काको कहिये बाह्मन शूद्रा।
झूटै गर्व भूलौ मत कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल होई।

जाति भेद, संप्रदाय भेद, स्त्री पुरुष भेद—ये सब आध्यात्म जगत् में टिक नहीं सकते। कबीर ने कहा कि वेद पुराण को लेकर ये सब गोल-गोल बातें क्यों करते हो ? वे बड़े गर्व के साथ अपना जुलाहा होना स्वीकार करते हैं; कारण कि वे छुआ-छूत मानते ही नहीं थे।

एक ही क्षुधा तृषा आदि अभावों के समभाव से आज सभी व्याकुल हैं। इसीसे वर्त्तमान युग में साम्य वाद का प्रचार हुआ। मध्ययुग में कबीर, दादू आदि ने इसी बात पर से भगवान् के साथ सबका समान संबंध देखकर मानव मात्र की समानता का प्रचार किया।

संत मत

जाति भेद तो थी सामाजिक बात। किंतु संतों के लिये धर्म ही वास्तविक था। संतों ने भगवान् के साथ प्रेम का व्यक्तिगत योग खोज निकाला। इस योगपथ में वाह्य आचार, वेद शास्त्र, वेश भूषा आदि का प्रयोजन उन्होंने नहीं माना। भगवत् प्रेम के सामने ने सभी तुच्छ हैं। नरक के भय या स्वर्ग के लोभ से धर्म का प्रवर्तन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्रेम धर्मके द्वारा भगवान् के साथ एक अभेद और साम्य पा लिया

था जो कि वेदांत के अभेद की अपेक्षा नहीं अधिक सरस था।

प्रेम पंथ के पथिक होने के कारण वे काया को अधिक कष्ट नहीं देते थे; पर प्रेम ही के कारण वे मन को सब प्रकार के कलुष से परिहार करते रहते थे। देह के देवालय में देहातीत चिन्मय विराजित है। दया, अहिंसा और मैत्री—यही उसके प्राप्ति के असली साधन हैं; वाह्य उपचार अर्थहीन है।

इस परम तत्व को गुरु ही दिखा सके हैं। अतः गुरु के प्रति उनकी भक्ति अचल है। साधु संग से प्रेम उपजता है; अतः वह महा धर्म है। प्रेम ही से प्रेम उत्पन्न होता है :—"प्रेम प्रेम सों होय" (रैदास) भगवान् भी प्रेम स्वरूप है; अतः प्रेम ही के द्वारा भगवान् से एकता संभव है। प्रेम श्रद्धा और निष्ठा से क्रम-क्रम से उपजता है। रुचि आग्रह और भाव से वह बढ़ता है। सहज प्रेम जब सिद्ध हो जाता है तभी जीवन सार्थक होता है। यह है संत मत का सार।

नाना संस्कृतियों के मिलन से हिंदू संस्कृति गढ़ी गई है इससे उसमें गतिशीलता के प्रति श्रद्धा है। वेदों से लेकर मध्य-युग तक सार बात है—आगे चलो! आगे चलो! कबीर ने कहा है :—

बहता पानी निर्मल रहे, बंधा गंदा होय।
साधू तो चलता भला, दाग न लागै कोय॥ (३७)

दादू ने भी समर्थन किया :—

दादू चलता जो गिरै, ताको दोष न होय।

भक्त के लिये कबीर ने वीरत्व की साधना चुनी थी :—

कबीर निज घर प्रेम का मारग अगम अगाध।
शीश उतारै पग धरै (तब) निकट प्रेम का स्वाद। (३८)

---

(३७) कबीर साहब की साखी पृ० ६६४

(३८) कबीर ग्रंथावलीः नागरी प्रचारिणी सभा काशी

साधन का पथ दुर्गम और अगाध है। तो भी संत उस पर चलने से भयभीत नहीं हुए। भारत के आकाश में विधाता की वह आकाशवाणी उसके डंके पर आज भी ध्वनित है। वह है सकल साधनाओं के समन्वय की वाणी। इस पथ में घर बाहर उत्पीड़न और अत्याचार दिन-रात इसकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। तो भी युग-युग से भारत का यथार्थ तपस्वी दल उससे भय-भीत नहीं हुआ :—

"सूरा चढ़ि संग्राम को, पाछा पग क्यों देय।" (दादू)

इसीके बीच में युग-युग से भारतीय साधक दल अपनी प्रेम और समन्वय साधना लेकर अग्रसर होते आये हैं। बाहर की बाधा, घर का विरोध, पथ रोध करता है; किंतु उनकी साधना की अग्रगति को रुद्ध नहीं कर पाता। विधाता की यह महा आदेश-वाणी अब भी उसके कानों में पहुँचती है। कोई विधि निषेध, दुःख विपद्, विघ्न-बाधा उसकी अप्रतिहत गति को कुछ भी बाधा न दे सकेगी।

प्रथम अध्याय

वैदिक साहित्य में समन्वय

किसी देश का साहित्य उस देश की प्राकृतिक सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। अधिक सरल रूप में इसे यों कहना चाहिए कि देश की परिस्थिति का प्रतिबिम्ब साहित्य पर पड़ता है। यही बात सामने रख हम देखेंगे कि संस्कृत साहित्य की धारा किस प्रकार इन से प्रभावित हुई।

वैदिक और बौद्ध, आर्य और अनार्य, ब्राह्मण-धर्म और जैन-धर्म से तथा वैष्णव और शैव आदि विभागों में भारतीय साहित्य या इतिहास का विभाजन करना भ्रमात्मक है। सब के आपसी आदान-प्रदान तथा समन्वय की भावना

से प्रेरित होकर देश कालानुसार धर्म और नाति की व्याख्या करना ही भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है। सर्व समन्वय ही हिन्दू धर्म की विशेषता है।

इस कारण तुलसीदास जी के समन्वय को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उस पूर्व परम्परा का दिग्दर्शन करें, जिसके सुदृढ़ आधार पर उन्होंने अपने समन्वय का भवन निर्माण किया।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मेकडॉनेल का कथन है : "संसार साहित्य में संस्कृत साहित्य का विशेष महत्व है। उसकी गहराई और विस्तार दोनों ही संसार के सभी साहित्यों से बढ़कर हैं। विस्तार में वह ग्रीस और रोम दोनों के सम्मिलित साहित्यों से अधिक है"। विषय के गाम्भीर्य और विविधता में भी वह संसार के अन्य साहित्यों में श्रेष्ठ है। पहले तो यह समझा जाता था कि संस्कृत साहित्य में केवल धार्मिक और दार्शनिक साहित्य ही है। किन्तु, ज्यों-ज्यों उसका अध्ययन और अनुसंधान बढ़ता गया, यह निश्चय हो गया कि उसमें अन्य विषयों का भांडार भी भरपूर है। भाषा के लालित्य आदि गुणों में वह सर्व प्रथम है। विदेशी लेखक भी यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन समय के सभी साहित्यों में हिन्दुस्थान का साहित्य ग्रीस के सिवा सब से अधिक निःसंशय, विशेषतायुक्त और रसपूर्ण है। मानव जाति की उत्क्रान्ति के अभ्यास करने के साधन रूप में तो वह ग्रीस के साहित्य से भी चढ़ा बढ़ा है। उसके प्रारम्भ का समय ग्रीक साहित्य के किसी भी ग्रंथ से प्राचीन है। मानव जाति की धर्म भावना का प्राथमिक स्वरूप इसी साहित्य में मिल सकता है। जगत् के दूसरे किसी

साहित्य से कहीं अधिक इस साहित्य में धार्मिक विचारों के विकास का स्पष्ट चित्र दृष्टि गोचर होता है। हिन्दुस्थान के प्राचीन साहित्य का जो महत्व है, उसका मुख्य कारण उसकी अपूर्वता ही है।

"हिन्दुस्थान की लगभग तीन हजार वर्षों से भी अधिक अपनी भाषा और अपने साहित्य में, अपने धर्म-सिद्धांतों में मरण और परिणय की विधियों में तथा अपनी गृह और समाज की रीति-नीति में बिना किसी व्यवधान की परम्परा चीन के सिवा और किसी देश में नहीं दीख पड़ती।"†

संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखकों ने उसे तीन विभागों ने विभाजित किया है। पहले विभाग में वैदिक साहित्य है। इसके भी पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो विभाग किए जाते हैं। प्रथमार्ध का साहित्य सिंधु आदि नदियों से सिंचित पंचनद देश में, उत्तरार्ध का साहित्य गंगा यमुना के किनारे से लेकर विंध्याचल के प्रदेश में तथा द्वितीय युग का साहित्य विंध्याचल के दक्षिण में रचित हुआ। वैदिक युग के प्रथमार्ध का साहित्य सृजन-शक्ति और कवित्व से भरपूर है। इसमें अध्यात्म चिंतन ही प्रधान है। द्वितीयार्ध में पद्य रचना के साथ गद्यरचना का भी प्रारम्भ होता है।

वैदिक साहित्य के प्रारम्भ काल के विषय में मतभेद है। जो लोग वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं वे उसे लाखों वर्ष से पहले ले जाते हैं। इसके विपरीत यूरोपियन विद्वान् उसे ईसा पूर्व २००० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं मानते। प्रोफेसर मेक्समूलर ने वैदिक युग का

† मेकडॉनेक :—संस्कृत साहित्य का इतिहास। पृ० ५ तथा ८

प्रारम्भिक समय ईसा पूर्व १२०० वर्ष निश्चित किया है। प्रोफेसर जेकोबी ने अधिक से अधिक ई० पू० ४००० वर्ष प्रारम्भिक काल माना है। डा० कोलब्रुक ने इसके बीच में प्रारम्भिक काल ई० पू० २००० से १४०० तक माना है। उनकी राय में वैदिक सूक्तों की रचना और वैदिक संहिताओं के संग्रह में इतना ही अन्तर है। श्री रमेशचन्द्र दत्त भी इससे सहमत हैं। आर्य लोगां के सिंधु नदी के तीर पर प्रथम आगमन से लेकर उनके गंडक नदी तक के प्रवास में १००० वर्ष का विस्तार मानकर प्रोफेसर बेवर साहब चलते हैं और अन्तिम तिथि ई० पू० केवल ५०० वर्ष निश्चित करते हैं ! इन मतों के अतिरिक्त प्रोफेसर ह्विटनी ऋग्वेद के सूक्तों के लिए ई० पू० २००० से १५०० तथा डा०मारटिन हाग ई० पू० २००० से १४०० तक निश्चित करते है। लोक मान्य तिलक द्वारा निश्चत की हुई तिथि इन सबसे प्राचीन है। वे प्रथम रचना को ई० पू० ४००० और अन्तिम सूक्तों को ई० पू० २५०० तक ले जाते हैं।

वैदिक संहिताओं के विषयों के विस्तार और गाम्भीर्य को देखते हुए यदि वैदिक धर्मावलंबियों ने उन्हें ईश्वर द्वारा प्रकाशित या अपौरुषेय माना है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। स्वामी शंकराचार्य ने यद्यपि वैदिक संहिताओं को कर्मकाण्ड मूलक मानकर केवल प्रस्थान त्रयी (ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् और गीता) को ही अपने धर्म प्रवर्तन का मूलाधार बनाया था तोभी वेदों के महत्व को उन्होंने पूर्णतया स्वीकार किया है। ब्रह्म सूत्र भाष्य में उन्होंने "शास्त्र योनित्वात्" सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि "शास्त्र शब्द द्वारा वेद ही लक्षित है। क्योंकि वह सब विद्या स्थानों से उपबृंहित, प्रदीप के समान

सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञ कल्प महान् ऋग्वेद आदि रूप सर्व गुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति (योनि) ब्रह्म है। सर्वज्ञ को छोड़कर इस गुणान्वित शास्त्र की उत्पत्ति दूसरे से नहीं हो सकती।" × वेदों के इस महत्व ही के कारण वैदिक धर्म के नाम से आर्य धर्म प्रसिद्ध हुआ और बाद के साहित्य में उसी के आधार पर रचनाएँ हुईं। सभी मतमतान्तरो ने वेदों ही की दुहाई दी। (चाहे वे उससे कितना ही मतभेद क्यों न रखते हों) उपनिषदों स्मृतियों तथा पुराणों में तो वेद को ब्रह्म की श्वास माना है। ❋

लो० तिलक ने ज्योतिष के अनुसार तीन वैदिक काल निश्चित किए हैं। पहला आदितिकाल बतलाया है, जो कि ई० पू० ६००० से ४००० वर्ष तक आता है। इस समय तक, उनके मतानुसार, वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। दूसरा मृगशीर्षकाल है, जिसकी मर्यादा उन्होंने ई० पू० ४००० से लेकर २५०० वर्ष तक बताई है और इसी काल में ऋग्वेद के प्राचीनतम सूत्रों का निर्माण माना है। तृतीय कृतिकाल है, जो कि ई० पू० २५०० से १४०० तक

× महत: ऋग्वेदादे: शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिन: सर्वज्ञ कल्पस्य योनि: कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यत: संभवोऽस्ति।

(ब्रह्मसूत्र भाष्य अधि० ३ सूत्र ३ पृ० १२७)

❋ अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस:— (बृ–२–४–१०)

यस्य नि:श्वसितं वेदा:—सायण।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय:।

माना गया है। इसमें तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मणों की रचना हुई। + अपनी दूसरी पुस्तक "आर्यों के उत्तर ध्रुव निवास" में उन्होंने वेदों का रचना काल १०,००० ई० पू० सिद्ध किया है,- किन्तु अन्य विद्वानों ने लोकमान्य के सिद्धान्तों का खंडन किया है। उमेशचन्द्र दत्त ने लिखा है कि सामवेद की अवस्था एक लाख वर्ष से कम न होगी। × श्रीयुत नाना पाउगी ने सिद्ध किया है कि मनुष्य प्राणी पृथिवी के तृतीय युग में पैदा हुआ और ऋग्वेद की रचना भी उसी समय हुई। उसके बाद हिमयुग और फिर पाषाणयुग हुआ, जिसका समय दो लाख चालीस हजार वर्ष माना जाता है। ❀

अविनाश चन्द्र दत्त ने सिद्ध किया है कि ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त उस समय बने जिस समय राजपूताने और युक्त प्रान्त में समुद्र लहरा रहा था। उस समय का अन्दाजा आज से तीन, चार लाख वर्ष पूर्व किया जा सकता है। ‡ पंडित रघुनन्दन शर्मा ने इसका भी खंडन कर यह सिद्ध किया है कि वे उतने ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन मनुष्य जाति का प्रादुर्भाव है † अस्तु।

वैदिक मंत्रों का यज्ञ याग आदि कर्म काण्ड से इतना घनिष्ठ संबंध हो गया कि बड़े बड़े विद्वान् भी यह मानने लगे कि वेद मुख्य रूप से सोम रस निकालते समय अथवा

+ Orion पृ० २०६–२०७

× मानवेर आदि जन्मभूमि पृ–२८

❀ आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि पृ–७६

‡ ऋग्वेदिक इण्डिया-पृ०५५६–५७

† वैदिक सम्पत्ति-पृ० १४४

देवताओं को सोमरस या घृत की आहुति देते समय उच्चारण की गई स्तुतियों और प्रार्थनाओं ही का संग्रह है। ये चार वेद भिन्न भिन्न विधियों के लिए रची गई स्तुतियों और प्रार्थनाओं के संग्रह हैं। इन संग्रहों को संहिताओं का नाम दिया गया। ये संग्रह भिन्न भिन्न समय में किए गए हैं। और उनका महत्व भी भिन्न भिन्न है। उनकी सम्मति का सारांश इस प्रकार है :

"चारों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सबसे अधिक प्राचीन ऋग्वेद अथवा ऋचाओं का वेद है। भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुति में भावात्मक काव्य ही इस वेद में आये हैं। इस कारण से इस ग्रन्थ को स्तुतियों अथवा प्रार्थनाओं का ग्रन्थ कहा जा सकता है। सामवेद का कोई निरपेक्ष गौरव नहीं है, क्योंकि इसके अधिकांश मत्र ऋग्वेद में से लिये गये हैं। सोमयाग में किस मंत्र का किस स्थान पर प्रयोग होता है इसी दृष्टि-बिन्दु से इनका संग्रह किया गया है। रागों के अनुसार ये मंत्र गाये जाते हैं। इसी कारण यह गायन (साम) का ग्रन्थ कहलाता है। यजुर्वेद में ऋग्वेद की ऋचाओं के अतिरिक्त गद्य में रचित नए मंत्र भी आए हैं। सामवेद के समान भिन्न भिन्न यज्ञों में उपयोग होने के क्रम से ही इनका संग्रह किया गया है। इस कारण इस ग्रन्थ को यज्ञ की प्रार्थनाओं (यजुस्) का ग्रन्थ कहते हैं। पहले तीन वेद धर्म के पवित्र ग्रन्थ माने जाते थे। वैदिक साहित्य के द्वितीय युग में इन तीनों के समुदाय को त्रयी विद्या कहते थे। चौथा संग्रह अथर्ववेद बहुत समय बाद संग्रहीत हुआ। बाह्य स्वरूप में तो यह ऋग्वेद के समान ही जान पड़ता है; किन्तु आन्तरिक तत्त्व में उससे बिलकुल भिन्न है। इसमें भूत प्रेत आदि आसुरी सृष्टि के मोहन मारण आदि मंत्रों का संग्रह है।

ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों मानव समाज की प्राथमिक भावनाओं से लेकर उच्च विचारों के दो छोरों पर स्थित हैं। इस कारण धार्मिक विचारों के विकास के अध्ययन में इनका बड़ा महत्व है।"

"ऋग्वेद के अधिकांश भाग में धर्म विषयक काव्यों ही का संग्रह है। दशवें मण्डल में हमें व्यवहार विषयक सूक्त भी मिलते हैं। इन सूक्तों में भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुतियां की गई हैं। उनके पराक्रम, महत्व, दया, बुद्धि आदि की प्रशंसा की गई है और अपने लिए पशु, प्रजा, सुख सम्पत्ति और दीर्घ जीवन की प्रार्थना की गई है।" ×

पहले पहल यूरोपियनों ने यहाँ तक कह दिया था कि ऋग्वेद प्राचीन लोक गीतों का संग्रह मात्र है। उसके बाद यह कहा गया कि यज्ञ में सोम का नैवेद्य और घी का होम देते समय उच्चारण की गई कविताओं ही का वह समुदाय है। बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ की विस्तृत विधियों से उन मंत्रों को सम्बंधित कर यह धारणा उत्पन्न कर दी कि वेद-मंत्र केवल यज्ञ-परक और कर्मकाण्ड प्रधान हैं। बाद में जब यज्ञ हिंसा प्रधान हो गये तब भी वेदों का उनसे सम्बन्ध बना रहा। इसी कारण पशु-यज्ञों के विरुद्ध जब आन्दोलन चला तब वेदों की भी उपेक्षा होने लगी। यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य ने भी कर्म त्याग का उपदेश देते हुए वेदों का आधार भी त्याग दिया। किन्तु ज्यों ज्यों वेदों का अध्ययन बढ़ता जाता है, उनके सम्बंध में भ्रमात्मक धारणाएँ दूर दूर होती जाती हैं।

× मेकडाँनेल—संस्कृत साहित्य का इतिहास

वेदों में उस समय की कुछ दंत कथाओं का भी उल्लेख मिलता है। इनका जेन्द अवस्ता में आई हुई दंत कथाओं से अद्भुत साम्य देखकर उस समय का पता लगता है जब ईरानी और आर्य साथ साथ रहते थे। ऋग्वेद और अवस्ता में उल्लिखित अनेक देवताओं में भी साम्य दीख पड़ता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद का यम और अवस्ता का मिम, ऋग्वेद का मित्र और ईरान का मिथ्र देवता एक ही जान पड़ता है। अग्नि की पूजा और सोम को मान्यता (जिसे अवस्ता में होम कहा गया है) तथा गौ के प्रति पूज्य भावना दोनों में सामान्य दीखती है। इन सब बातों से पता लगता है कि आर्य तथा ईरानी सभ्याताओं में काफी आदान प्रदान चलता रहा तथा दोनों में समन्वय भी हुआ है।

प्रारंभिक काल में आर्य जाति जीवन में आनन्द तथा रस लेने वाली जाति थी। सुख और सौन्दर्य, जीवन और शक्ति, ऐश्वर्य और सामर्थ्य ही उनका सनातन आदर्श था। उस काल में ऋषिगण प्रकृति के सम्पर्क में रहते तथा प्राकृतिक दृश्यों, सौन्दर्य और शक्ति से प्रभावित होकर उनमें सचेतन शक्तियों का अस्तित्व स्वीकार कर उनकी उपासना में प्रवृत होते थे। उषा और संध्या के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उनका वाणी इनकी प्रशंसा मे फूट पड़ी। कभी सौन्दर्य पर मुग्ध होकर, कभी भक्ति से गद् गद् होकर और कभी घन-गर्जन और वज्र-पात से भयभीत होकर शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुतियों अथवा सूक्तों की रचना होने लगी। दूसरी ओर सूर्य चन्द्र को नियमित रूप से उदय अस्त होने तथा ऋतुओं के चक्र को चलते देखकर विश्व को प्रेरित एवं नियमित रखने वाली और वर्षा आदि के द्वारा विश्व को पालन पोषण करने वाली शक्ति का भान होने लगा। वाह्य

सौन्दर्य और शक्ति में अन्तर्निहित एक चैतन्य का भी अनुभव हुआ। अतः कभी भिन्न भिन्न शक्तियों या देवताओं और कभी एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न प्रतीकों के रूप में उनकी उपासना होने लगी। सुन्दर उषः और सोम, पोषक सूर्य, पूषन, तथा शक्तिशाली इन्द्र, यम आदि प्रधान देवों की स्तुति में मंत्रों की रचना ही से वैदिक साहित्य का प्रारम्भ होता है।

विदेशी विद्वानों ने यह मत प्रगट किया है कि पहले आर्यों ने अलग अलग शक्तियों के रूप में भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना की और बाद में उनके हृदय में उनकी एक ही ईश्वर में भिन्न भिन्न शक्तियों का एकीकरण कर विश्व देवता-वाद का उदय हुआ। किन्तु, हम देखते हैं कि पहिले ही से एकेश्वरवाद के बीज वेदों में उपस्थित हैं, जो कि आगे चलकर उपनिषदों में पूर्ण रूप से विकसित हुए। हमें ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि एक ही देव का लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं; कोई उसे अग्नि, यम और कोई मातरिश्वा कहते हैं। ± एक दूसरे मंत्र में कहा है, जो पक्षी (अर्थात् सूर्य) एक ही है उसकी विप्र और कवि अनेक रूप से कल्पना करते हैं। ÷ सब देवताओं ही का नहीं वरन् प्रकृति का भी इसी एक देवता में समावेश हो जाता है। इस प्रकार उदात्त कल्पना भी हमें ऋग्वेद में मिलती है। एक मंत्र में अदिति देवी सब देवताओं, मनुष्यों,

± इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिवानमाहु ॥
(ऋ. १ – १६ – ४ – ४६)

÷ सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिः एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

अन्तरिक्ष और आकाश तथा जो कुछ भी है और जो कुछ होगा सभी से एकरूप हो जाती है।+

ऋषियों ने विश्व के तीन विभाग किए थे—आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी। आकाश, सूर्य, चन्द्र, उषा आदि देवताओं का कार्य क्षेत्र है। अन्तरिक्ष, बिजली वर्षा और पवन का क्रीड़ा क्षेत्र है तथा पृथिवी, अग्नि, सोम आदि की आधार है। अन्तरिक्ष को कभी बादलों के कारण पर्वत अथवा 'असुरों का गढ़' कहा गया है। गर्जन करने वाले बादल वेदों के सूक्तों में 'दूध देने वाली गौएँ' बन जाते हैं।

पहले प्राकृतिक दृश्यों में चेतनत्व का आरोपण कर उनको देवताओं का रूप दे दिया गया। सूर्य, उषा, अग्नि, वायु आदि प्राचीन काल से देवताओं के रूप में वर्णित और पूजित हुए। वे अन्धकार को दूर कर प्रकाश प्रदान करने के कारण तेजस्विता, बल आदि कल्याणकारी प्रवृत्तियों के प्रतीक माने गए। इस तरह एक ही प्रकार के गुणों के कारण इन में एक रूपता की भावना होते होते अन्त में वे एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप मात्र रह जाते हैं। इस एकता की स्थापना के लिए ऋषियों ने कुछ देवताओं को जोड़ा के रूप में वर्णन किए है। उदाहरणार्थ इन्द्र को 'वृत्रहन्ता' कहा गया है। और अग्नि को भी इसी नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार भिन्न भिन्न देवताओं की एकता बढ़ती जाती है। कभी कभी एक ही देवता को भिन्न देवताओं की शक्ति से सम्पन्न मानने से इस एकता की और भी पुष्टि हो जाती है। अग्नि देव का आवाहन करते समय कहा गया है :

+ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदिति र्मातास पिता सपुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

"हे अग्नि ! तू जन्म के समय वरुण हो जाती है। हे बल पुत्र ! तुझ में सब देवता बसते हैं। मनुष्यों के लिये तू इन्द्र है।"X

अग्नि देव वैदिककाल का प्रधान देवता है। तीन लोकों में इसके तीन भिन्न भिन्न रूप हो जाते हैं। पृथ्वी पर अग्नि रूप तो प्रत्यक्ष ही है। आकाश में वह सूर्य रूप से प्रकाशित है और अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में द्योतित है। इससे भी यह भावना स्पष्ट होती है कि एक ही तत्व भिन्न भिन्न नामों और रूपों में पूजित होता था। इस प्रकार ऊपर से बहुदेववाद के समान दीखने पर भी भीतर एकेश्वरवाद की प्रबल भावना दृष्टि गोचर होती है। प्रजापति को सब देवताओं से श्रेष्ठ माना गया है जिसमें सबका समावेश हो जाता है † —केवल देवताओं ही का नहीं किन्तु समग्र प्रकृति का भी समावेश हो जाता है। इसमें एकेश्वरवाद (Monotheism) और विश्वदेववाद (Pantheism) सभी एकाकार हो जाते हैं।

मेकडानेल सा० का कहना है कि इस प्रकार के एकता सूचक मंत्र हमें ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में मिलते हैं। अतः, यह प्रगट होता है कि ऋग्वेद काल के अन्तिम

X त्वमग्ने वरुणो जायसे मत्
त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वं विश्वे सहसस्पुत्र देव
स्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥

† तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ।ताआपः सप्रजापतिः ॥
यजु० १-१३-१

समय में अनेकेश्वरवाद पर एकेश्वरवाद का रंग चढ़ने लगा था। इसी प्रकार प्रत्येक देवता की स्तुति करते समय उसी को सर्व श्रेष्ठ मानकर स्तुति की गई है। इस पर से श्री मेक्समूलर ने Henotheism अथवा Kathenotheism की कल्पना की है। किन्तु यह स्पष्ट है कि मण्डलों के रूप में ऋचाओं का संग्रह बहुत बाद में किया गया था। अतः उनको अन्तिम मण्डल में पाकर यह कहना ठीक नहीं कि यह एकत्व की कल्पना बाद में उदय हुई। अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध है कि एकत्व और समन्वय की भावना वैदिक साहित्य में व्याप्त है।

वेदों में भी भिन्न भिन्न देवता इसी एक ब्रह्म के भिन्न भिन्न नाम और रूप समझे जाते थे। ऋक्, साम, यजुस् और छन्दों का उत्पत्ति कर्त्ता भी यही पुरुष माना गया (१) आगे चलकर उपनिषदों और ब्रह्म सूत्रों में यही भावना और भी विकसित हुई। उसमें विशेषता यह थी कि ईश्वर को एकत्व बोध के साथ उसके भयप्रद रूप के स्थान में कल्याण मय रूप पर श्रद्धा बढ़ी और उसके साथ आत्मैक्य की भावना प्रचलित हुई: 'हे पूषन्! सूर्य! प्रजा पति! यम! अपनी शक्ति को एक करो जिसमें तुम्हारे कल्याण मय रूप के दर्शन करूँ। जो पुरुष इन सब में हैं वह मैं ही हूँ (२) उसी एक देव उपासना में प्रवृत होकर उसकी स्तुतियाँ गाई जाने लगीं। इस साहित्य में दूसरी विशेषता यह थी कि कर्म काण्ड के

(१) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: ऋच: सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ (पुरुष सूक्त)

(२) पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्रजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुष: सोहमस्मि
(ईशा १६)

द्वारा सांसारिक वस्तुओं की कामना या आत्मरक्षा का भाव परित्याग कर आत्मोन्नति और शुद्ध बुद्धि प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएँ होने लगीं (३) एकेश्वर के सर्व व्यापी होने की भावना के साथ संग्रह के बदले त्याग की भावना भी जागृति हुई। (४)

उपनिषद् के अनुसार ईश्वर सर्व व्यापी तेजस्वी (शुक्र) अशरीर (अकाय) शुद्ध और पाप रहित (अपाप विद्धम्) है उसकी प्राप्ति के लिये स्वयं भी उसी प्रकार बनने की आश्यकता बतलाई गई। (५)

सत्य, तप, ज्ञान, ब्रह्मचर्य के द्वारा क्षीण-दोष हो कर ही हृदय में इस ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा का दर्शन किया जा सकता है। (६) इसकी प्राप्ति भाषण (प्रवचन) बुद्धि (मेधा) बहुत ज्ञान (बहुना श्रुतेन) से नहीं हो सकती। (७) इसको प्राप्त कर ज्ञानतृप्त महात्मा कृतार्थ हो जाते हैं। वे वीतराग और प्रशान्त हो जाते हैं। इस सर्व व्यापी को सब ओर से प्राप्त कर सर्व रूप में प्रवेश करते है। (८)

---

(३) य एको देवो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते स्वयं विश्वमादौ स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(४) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ (ईशा १)

(५) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः याथातथ्यतोऽर्थान् विदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

(६) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

(७) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(८) सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥

द्वितीय अध्याय

आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय

आर्यों और द्रविड़ों का संपर्क

कई विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि भारत में आर्यों के पहिले ही द्रविड़ जाति आ चुकी थी और उसने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में अपनी सभ्यता स्थापित कर ली थी। इनमें माता से वंश चलता है, माँ प्रधान देवी मानी जाती और शिवलिंग की पूजा होती थी। वे जाति-भेद तथा पुरोहित की प्रथा को मानते थे। उनमें चित्र-लिपि

भी प्रचलित थी। आर्यों ने द्रविड़ों के संपर्क में आने पर उनमें उन्नत सभ्यता पाई। उनसे बहुत सी बातें ग्रहण कर उन्होंने अपनी सभ्यता में सम्मिलन कर लीं।

आर्यों में इंद्रादि पुरुष देवताओं की पूजा प्रचलित थी। द्रविड़ों से उन्होंने शक्ति देवी की पूजा ग्रहण की। साथ ही जाति भेद तथा मूर्ति पूजा जो उनमें प्रचलित थी वह भी ग्रहण की; उन्हीं की चित्र-लिपि के आधार पर अपनी वर्णमाला बनाई तथा तालव्य व्यंजन भी उनकी ही भाषा से ग्रहण किए। ×

इस बात में मत भेद है कि द्रविड़ लोग भारत के बाहर से आये (१) अथवा दक्षिण ही के मूल निवासी थे (२) फ्रेजर सा० तो इन दोनों ही के लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं पाते; किंतु इतना तो निश्चय है कि बहुत काल तक उत्तर और दक्षिण भारत का संबंध विच्छिन्न रहा। युगों तक विंध्याचल दोनों के बीच भारी बाधक सिद्ध हुआ। अन्त में, अगस्त्य जैसे ऋषियों ने इन दुर्गम भागों में कष्ट सहन कर प्रवेश किया और आर्य सभ्यता का प्रकाश दक्षिण में फैलाया। बौद्ध और तामिल साहित्य में भी हमें अगस्त्य और उनके शिष्यों का वर्णन मिलता है। आर्यों का प्रभाव दक्षिण भारत पर कब पड़ना आरंभ हुआ, इस बात में भी मत भेद है। श्री बरनेल की सम्मति में ९०९ ई० तक भी यह प्रभाव अधिक नहीं था (३) किंतु, गोविंद स्वामी सिद्ध

× श्री श्यामाचरण राय—जाति विज्ञान (दशम अध्याय)

(२) Reslay : People of India Rapsm: Encyclopedia Britanica p. 593.

(३) Indian Antiquary 1872 P. 310

करते हैं कि ई० पू० दूसरी से छठीं शताब्दी के बीच में आर्य प्रभाव दक्षिण में काफी फैल चुका था।

साहित्यिक समन्वय

दक्षिणी भाषाओं में तामिल ही सब से प्राचीन समृद्ध और संस्कृत भाषा है। इसका मुख्य कारण बाहिरी सभ्यताओं का संसर्ग ही माना गया है। ईसवी सन् के बहुत पहिले पाण्ड्य चोल और चेर नामक तामिल राज्य काफी उन्नत और समृद्ध थे और उनका व्यापारिक संबंध केवल उत्तरीय और पश्चिम भारत तक ही सीमित न था, वरन् भूमध्य सागर के देशों तक फैला हुआ था (४)

यह व्यापार ईसा की सातवीं सदी तक चलता रहा जब कि अरबों के उदय ने सब संबंध विच्छिन्न कर दिए। इस संसर्ग का प्रभाव साहित्य और संस्कृति पर पड़े बिना नहीं रहा। कन्नड़ साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उत्तर से आए हुए संस्कृत विद्वानों के प्रभाव से कन्नड़ व्याकरण तथा लिपि का प्रारंभ हुआ (६) तेलगु लिपि पर अशोक लिपि की दक्षिणी शाखा का ही प्रभाव पड़ा था। कन्नड़ की संस्कृत प्रचुरता ही के कारण

---

(४) Indian Antiquary 1912/PP./227

(५) Rawbinson and Rapson :
Indian and the western world Ch. N. V1I.
Aiyangar : Some contributions of South Indian culture Ch. XVIII.

(६) Reci Canerese Literature

संस्कृत को उसकी सौतेली माँ कहा गया है। (७) कन्नड़ और तैलगु प्रान्तों के बीच कोई भौगोलिक बाधा न होने के कारण दोनों भाषाओं का आदान-प्रदान बराबर चलता रहा और वे एक दूसरे से प्रभावित होती रहीं। श्री वैष्णव पंथ के उदय के बाद तो तामिल संस्कृति ने भी कन्नड़ पर अपना प्रभाव विस्तार करना प्रारंभ कर दिया। (८) मलयलम् साहित्य का उदय तो बहुत बाद में हुआ। जैन कवियों की रचना से ही उसका प्रारम्भ होता है। १० वीं सदी के पहिले स्वतंत्र भाषा के रूप में उसके कोई प्रभाव नहीं पाए जाते। १२ वीं सदी का "राम चरित्रम्" नामक एक उत्तम काव्य उसमें पाया जाता है। तामिल की अपेक्षा मलयालम् में संस्कृत शब्दों की अधिकता होने ही से यह सिद्ध होता है कि उत्तर भारत की भाषा का प्रभाव दक्षिणी भाषाओं पर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

स्टोन कौनो सा० ने भी द्रविड़ साहित्य पर आर्य प्रभाव स्वीकार किया है। (९) आयंगर तो यहाँ तक कहते हैं कि जिस प्रकार भारत का इतिहास आर्यों के आगमन से प्रारम्भ होता है उसी प्रकार दक्षिण भारत का इतिहास भी आर्यों के दक्षिण भारतीय संसर्ग से प्रारंभ होता है। भांडारकर का कथन है कि ई० पू० सातवी सदी तक उत्तर भारत के आर्यों को दक्षिण का कुछ पता नहीं था। (१०)

क्रुकसा० तो मानते हैं प्राचीन काल से द्रविड़ भाषा

---

(७) Reci Canerese Literature
(८) " "
(९) Eng Bri. VIII p. 551
(१०) Bombay Gazetteer

साहित्य कला और संस्कृति स्वतंत्र रूप से उन्नत होती चली आई है; क्योंकि बीच की पर्वत श्रेणियां उत्तर और दक्षिण के संपर्क में बाधक होती थीं।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि आर्य संसर्ग के पूर्व भी द्रविड़ भाषाएँ काफी उन्नत हो चुकीं थीं तोभी आत्मज्ञान के प्रचारक ब्राह्मणों, जैनों और बौद्धों के कारण उत्तर भारतीय आर्य संस्कृति के संपर्क में आने से उनमें अभूतपूर्व उन्नति हुई। इस बात का काफी प्रमाण है कि बौद्ध भिक्षु और जैन श्रमण अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ उन्होंने उस प्रदेश की प्रचलित बोलियों को साहित्यिक रूप वहाँ दिया और उन्हीं को अपने प्रचार कार्य का माध्यम बनाया। (११) जिस प्रकार ब्राह्मणों के प्रभाव से संस्कृत की उन्नति और प्रचार हुआ उसी प्रकार जैनों और बौद्धों के प्रभाव से लोक भाषाओं की उन्नति हुई। इन धर्मों के प्रचारक जिस प्रकार धर्म और नीति में सुधारवादी थे, उसी प्रकार भाषा-क्षेत्र में भी थे। इन्होंने लोक-धर्म के लिये लोक-भाषा ही की आवश्यकता का अनुभव कर उसी को अपने धर्म प्रचार का साधन बनाया। जब स्वयं बुद्ध ने संस्कृत छोड़कर पाली भाषा का आश्रय लिया था और बौद्धों की वाणी को लोक भाषा में प्रचलित करने का आदेश दिया था, तब उनके शिष्य गण उसका पालन क्यों न करते ?

पल्लव राज्य के पूर्व तामिल साहित्य में हमें 'संगम' का उल्लेख मिलता है जो कि साहित्य कार्य के लिये राजाओं द्वारा नियुक्त किए गए विद्वानों के समूह थे। (१२) अनुमान होता

(११) Repson : Imperial Gazetteers p. 35.
(१२) Ayaingar, Some Contributions of south India to Indian culture p p. 1

है कि इससे पहिले व्यक्तिगत रूप से कार्य करने वाले कवियों के द्वारा साहित्य की काफी उन्नति हो चुकी होगी। इस प्रकार के तीन संगमों का उल्लेख हमें मिलता है। आयंगर इनका समय पहिली व दूसरी सदी मानते हैं। संगम एक प्रकार के वीर गाथा पूर्ण काव्य थे। इन काव्यों से पता चलता है कि तमिल देश धन, धान्य, वाणिज्य, व्यापार तथा धर्म संस्कृति में कितना संपन्न और उन्नत था। वहाँ बौद्ध और जैन धर्मों का काफी प्रचार हो चुका था। अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा तमिल राज्य की उत्तरी सीमा से मिलती जुलती थी। इसलिये बौद्ध धर्म का प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि बौद्ध, जैन तथा शैव मतवाले हिलमिलकर रहते थे(१३)। बाद के साहित्य में अवश्य ही इस बात का आभास मिलता है कि उन मतों का शैवमत से कुछ विरोध हो गया था। ह्वेनसाँग के वर्णन से प्रगट होता है कि अकेले कांची नगर में एक लाख बौद्ध भिक्षु अनेक जैन साधु तथा ८० ब्राह्मणों के मंदिर मौजूद थे। कई बौद्ध स्तूपों के भग्नावशेष भी उसे मिले थे जिससे प्रगट होता है कि ब्राह्मण मत उन्नति पर था और शेष दो मत अवनति पर थे। पाँचवीं छठीं सदी में इन मतों के प्रति विरोध के भाव अधिक बढ़ गए थे।

यहाँ पर हम तामिल साहित्य के सबसे प्राचीन उस महान् ग्रंथ का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं जो साहित्यिक और नैतिक दृष्टि से केवल भारतीय साहित्य ही

---

१३ Frazer E.R.E. (V) p. 23

का नहीं वरन् विश्व साहित्य का एक रत्न है। (१४) उस ग्रंथ का नाम कुरल है जिसे तिरुवलुवर नामक एक जुलाहे सन्त ने रचा था। इसकी रचना के समय के विषय में मतभेद है। (१५) इस ग्रंथ में सर्वसम्मत नीति तत्वों का इतनी विशेषता से वर्णन है कि वैदिक जैन तथा बौद्ध सभी इसे अपने-अपने आचार्यों द्वारा रचित बताने में चढ़ा ऊपरी करते हैं। इस ग्रंथ से सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य संस्कृति ने दक्षिण में कैसा गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। अनेक कष्टों को सहन कर, वन-पर्वतों को पार कर, सुदूर दक्षिण में आने तथा विद्वत्ता और चरित्र के कारण ब्राह्मणों का आदर होना स्वाभाविक ही था। यज्ञादि में निपुण होने के कारण राज समाज पर भी उनका प्रभाव होना अनिवार्य था।

प्रारंभिक तामिल साहित्य से हमें सुख समृद्धि के कारण राज समाज में बढ़ती हुई विलासिता के भी उदाहरण मिलते हैं। पाण्ड्य नरेशों का यवनियों के हाथ से स्वर्णपात्र में सुरापान करने के वर्णन पाए जाते हैं। इन ऐश्वर्यपूर्ण नरेशों के लिये वैदिक धर्म के राजसूय, यज्ञ-याग आदि समारोह द्रविड़ ग्राम देवताओं की अपेक्षा अधिक आकर्षक जान पड़े। इतिहास में हमें पाण्ड्य तथा चोल राजाओं द्वारा राजसूय यज्ञ करने के वर्णन मिलते हैं। ये द्रविड़ और आर्य सभ्यता के सम्मिलन के यथेष्ट प्रमाण हैं।

---

१४ V. Smith Oxford History of ndia p. 144

(१५) श्री आयंगर की सम्मति है कि यह कौटिल्य के बाद रचा गया, किंतु श्री पिल्ले इसे १ली सदी में मानते हैं।

द्वितीय अध्याय

आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय (२)

दक्षिण के राज्य

कलिंग और आंध्र राज्य, ये दक्षिण भारत के प्रधान राज्य थे, अतः इन पर भी विचार करना आवश्यक है। ई० पू० २६२ में अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की; किंतु भयानक नर हत्या के कारण उसे निर्वेद उत्पन्न हुआ। उस पर पश्चाताप करते हुए उसने जो कुछ कहा था, उससे प्रगट होता है कि कलिंग में ब्राह्मण भिक्षुक तथा, अन्य मतावलंबी लोग रहते

थे। अशोक के बाद कलिंग के राजा खारवेल ने हाथी गुम्फा आदि गुफाओं में जैन मूर्तियों का निर्माण कराया। इससे प्रगट होता है कि आर्य संस्कृति के चिन्ह कलिंग में मौजूद थे। कलिंग की सीमा से लगे रहने के कारण आंध्र पर भी उसका प्रभाव पड़ा। मौर्यों के पतन के बाद १९४ ई० पू० में आंध्रों का उदय हुआ। इन्होंने पहिले श्रीकाकुलम् तथा बाद में अमरावती में अपनी राजधानी बनाई। यहाँ आन्ध्र भृत्यों द्वारा निर्मित बौद्ध स्तूप पाए गए हैं। आंध्र साम्राज्य की सीमा दोनों समुद्रों को स्पर्श करती थी तथा विदिशा और उज्जयिनी तक फैल चुकी थी (१६)। इसके नगर रोम आदि से विस्तृत व्यापार करने के कारण धन-धान्य से पूर्ण थे। राजा सात कर्णि ने वैदिक विधान के अनुसार अनेक बार अश्वमेध यज्ञ किए (१७)। इस वर्णन में हमें उनके आर्य धर्म के रक्षक और संवर्धक होने के प्रमाण मिलते हैं (१८)।

इसके बाद हम पल्लवों के उस गौरवपूर्ण युग में प्रवेश करते हैं जिसमें दक्षिण में आर्य संस्कृति साहित्य तथा वैष्णव पंथ का पूर्ण प्रभुत्व था। पल्लव उत्तर के नागवंश की शाखा माने जाते हैं। विदेशी होने के कारण चालुक्यों तथा तमिल देश वासियों से इनका काफी संघर्ष रहा। तो भी ईसा की दूसरी शताब्दी से ९ वीं शताब्दी तक इनका साम्राज्य स्थिर रहा। आंध्रों के समान ये भी आर्य संस्कृति के समर्थक थे। इनके सिक्के तथा ताम्र पत्र संस्कृत तथा

---

(१६) Rapson: Cambridge History of India p. 531
(१७) Butler: Arch. Survey of Western India V p. 60
(१८) Smith.: Oxford History of India

प्राकृत में पाए जाते हैं। तमिलों की दृष्टि में पह्लव राज्य केवल विदेशी ही नहीं वरन् आर्य संस्कृति के पक्षपाती भी थे (१९)। इन्होंने शैव तथा वैष्णव मंदिर बनवाये। कांची उस समय विद्या का केंद्र था। यहाँ भारवि और दंडी से कवि, तथा मयूरशर्मा जैसे विद्वान निवास करते थे। राजा महेन्द्र वर्मन् संस्कृत का विद्वान् लेखक था। उसने शैव और वैष्णव दोनों पंथों के मंदिरों का निर्माण किया। प्रसिद्ध ६३ शिव भक्तों में से चोलराज कोचिंगन् भी एक था जो कि ईसा की छठी सदी में हुआ। प्रायः सभी शिव भक्त पल्हव युग में ही उत्पन्न हुए माने जाते हैं।

धार्मिक समन्वय

पांचवीं सदी में आंध्र साम्राज्य के पतन के बाद अनेकों राज्य वंशों का उदय होता है। महाराष्ट्र में जैन कदंब, उत्तर में राष्ट्र कूट, उसके भी उत्तर में चालुक्य तथा बिलकुल दक्षिण में पल्हव राज्य स्थापित थे। इन सब प्रदेशों में वैदिक, बौद्ध तथा जैन तीनों मत साथ-साथ प्रचलित थे; किन्तु अधिकतर राजघरानों ही तक इनका प्रचार था—जन साधारण में हमें प्राचीन द्रविड़ धार्मिक विश्वासों ही का प्रचार मिलता है। धन धान्य से सुसंपन्न होने के कारण वैदिक कर्म कांड का प्रचार होना स्वाभाविक ही था। और अधिक सुख संपत्ति के बाद उससे विरक्ति होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सन्यास प्रधान जैन और बौद्धमतों का प्रचार होना भी स्वाभाविक था। साथ ही जन साधारण के विश्वासों को अपने धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित करने

---

(१९) Sundaram Aiyanger: Some mile stones of Tamil Literature.

की वैदिक धर्म में अद्भुत क्षमता थी। जैन या बौद्धमत की अपेक्षा जन साधारण के विश्वासों से वैदिक धर्म का अधिक साम्य भी था। अथर्व वेद के तंत्र मंत्र के साथ द्राविड़ी जादू टोना की अधिक समानता थी। काल्डवेल, व्हाइटहैड तथा सेवेल आदि के वर्णनों से पता लगता है कि द्राविड़ ग्राम देवता पत्थर पर किसी देवी की आकृति, वृक्ष में निवास करने वाली भूत प्रेतात्मा अथवा नाग होते थे। इन दुष्टात्माओं की प्रसन्नता के लिये बलिदानों की प्रथा प्रचलित थी। इनमें भी स्वर्ग नरक या पाप पुण्य की कोई कल्पना नहीं थी। इनके मंदिरों में अधिकतर ब्राह्मणेतर लोग ही पुजारी होते थे जोकि जादू टोना तथा वैद्यक में भी निपुण होते थे। देवता के सामने बलिदान या नृत्य गीत करना इनका पूजा-विधान था। (२०)

इसी नृत्य गीत को मंदिर पूजा के आवश्यक अंग के रूप में विष्णु तथा शिव मंदिरों में प्रचलित कर वैष्णव व आलवर तथा शैव संतों ने अपनी समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। आगे चलकर शक्ति उपासना में भी द्राविड़ विश्वासों की स्पष्ट छाप लक्षित होती है जिसमें पृथ्वी को मातृ रूप मानकर उनकी उपासना की जाती और उसे बलिदानों आदि से संतुष्ट किया जाता था।

बहुत से लोग तो रुद्र शिव की उपासना को भी द्रविड देश में प्रचलित मान कर यह सिद्ध करते हैं कि आर्यों के रुद्र तथा द्रविड़ों के रुद्र में इतनी समानता थी कि दोनों ने एक दूसरे के गुणों का आपस में आदान प्रदान करके एक ऐसे देव की रचना की जो दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो

(२०) White head : Village Gods of South India
Imperial Gazetteer P P322

सके। आर्य जाति जोकि नवीन रूप से द्रविड़ देश में आई हुई थी उसे अपने तथा द्रविड़ जाति के धार्मिक विश्वासों में सामंजस्य करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इसमें उसने फिर अपनी समन्वय बुद्धि से काम लिया और अपने धर्म को सुदूर दक्षिण देशों तक विस्तृत करने में समर्थ हुई। (२१)

भक्ति के उद्‌गम से दक्षिण भारत का बहुत घनिष्ठ संबंध है। भागवत महात्म्य में भक्ति अपने को 'द्राविड़े उत्पन्ना' कहती है। (२२) स्वयं भागवत पुराण में इस बात का उल्लेख है कि कलयुग में नारायण भक्त सारे भारत में यत्र तत्र बिखरे हुए मिलेंगे; किन्तु विशेष रूप से द्राविड़ देश में कावेरी और ताम्रपर्णी नादियों के तट पर पाए जाएंगे। २३)

श्री आयंगर का तो यहां दावा है कि वैष्णव धर्म के सभी आचार्य और आलवार तथा शैवों के आदि पर द्रविड़ देश ही में उत्पन्न हुए (२४) फर्कुहार सा० तो भागवत को

(२१) Coldwell: Comperative dravadian Grammer.

(२२) उत्पन्ना द्राविड़े साहं, वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचिन्क्वचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरे जीर्णतां गता॥ (भा, स्कं. १. ४८)

(२३) क्वचिन्कचिन्महाराज द्रविड़ेषु च भूरिशः
ताम्रपर्णी नदी यत्र, कृतमाला वयस्विनी॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥ (भा.स्कं.११ अ.५)

(२४) Early History Vof aishnauism in south india P 13–40

भी ९०० ई० में दक्षिण ही में रचित मानते है। (२५) किंतु श्री कृष्णस्वामी आयंगर सत्य के अधिक समीप जान पड़ते हैं जब वे कहते हैं कि भक्ति का उद्भव यद्यपि उत्तर भारत में हुआ था, किंतु उसका विस्तार दक्षिण ही में हुआ। सर रिचर्ड टैंपिल तो कहते हैं कि वैष्णव धर्म में दक्षिण भारतीय भक्ति मार्ग की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। (२६ चाहे हम सारा श्रेय दक्षिण को न भी दें तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति मार्ग के उत्तर कालीन विकास में दक्षिण का काफी हाथ रहा है।

इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि दक्षिण में पल्हव तथा विजय नगर साम्राज्य केवल संस्कृत साहित्य ही के संरक्षक न थे वरन् वैष्णव और शैव पंथों के भी बड़े भारी आश्रय दाता थे। विजय नगर तो मुसलमानी आक्रमण से हिन्दू धर्म की रक्षा करने में बहुत काल तक समर्थ हुआ और उसके नष्ट होने पर ही मुसलमान दक्षिण की ओर बढ़ सके।

शैवसन्त

त्रितीय संगम के युग में ईसा की पहिली सदी) पांड्य दरबार के ४६ कवियों में शिवभक्त सन्त नक्किर सबसे प्रसिद्ध हैं। संत कण्णप भी (दूसरी सदी) प्रसिद्ध शिवभक्त हो गए हैं जिन्होंने अपने नेत्र तक चढ़ाकर शिवजी की पूजा की थी। कोई आश्चर्य नहीं कि वे ६३ शिवभक्तों में प्रधान माने जाते हैं। इनके बाद तिरूमूलर का समय आता है। ये सातवीं सदी में उत्पन्न माने जाते हैं।

---

(२५) Out line of Religious Leteratary of india by Farquhar.

(२६) Indian Antiquary. Feb. 1924.

तिरुमूलर तामिल देश में शैव मत के प्रथम प्रचारकों में से थे। 'पेरीयापुराणम्' नामक ग्रंथ में हमें उनका जीवन चरित्र मिलता है। उसकी कथा के अनुसार वे कैलास से आए और उन्होंने तीन हजार वर्षों में अपने ग्रन्थ 'तिरुमंदिरम्' का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ के समय के विषय में बहुत मतभेद है, किंतु उनके बाद के शैव संत 'सुंदरामूर्ति' ने उनका उल्लेख किया है, अतः वह नवीं सदी के पहिले का माना जा सकता है।

शैव मत के चार प्रधान मार्गों—चर्या, क्रिया, योग, तथा ज्ञान (जिन्हें दास मार्ग सत्पुत्र मार्ग सहमार्ग और सन्मार्ग भी कहा गया है) के क्रमशः चार आचार्य माने गए हैं। तिरुनावुकरसु या अप्पर) ज्ञान संबंध (सातवीं सदी) सुंदरामूर्ति तथा माणिक्कवाचक (९ वीं सदी।) इनका समय भी इसी क्रम से है और दक्षिणी मंदिरों में इनकी मूर्तियाँ भी इसी क्रम से मिलती हैं। (कुछ लोग माणिक्कवाचक को सबसे पहिला मानते हैं) अप्पर पल्लव राजा राजेन्द्र (प्रथम) के समसामयिक थे। संबंधर भी इसी समय हुए। संबंधर द्वारा "पिता" (अप्पर) शब्द से संबोधित किए जाने ही के कारण इनका नाम अप्पर पड़ा। अप्पर के नीच जाति (वेल्लेला) में उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मण संबंधर से इनका संबंध बहुत घनिष्ट रहा।

इस समय जैन तथा शैव मत के बीच चढ़ा उपरी के प्रमाण भी मिलते हैं। अप्पर पहिले जैन हो गए थे, किंतु फिर शैव मत में वापिस आ गए। इसी प्रकार मदुरा के पाण्ड्य राजा ने भी जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, किंतु संबंधर के तर्क से प्रभावित होकर वे फिर शैव हो गए। इन चारों

आचार्यों की वाणियों का ११वीं सदी में नंबी अंदर ने 'देवरम्' नामक ग्रंथ में संग्रह किया।

उमापति शिवाचार्य (१४ वीं सदी) लिखते हैं कि नंबी ने पहले १० ग्रंथों के रूप में तिरुज्ञान संबंधर अप्पर सुन्दरामूर्ति माणिक्क वाचक तथा तिरुमूलर आदि सभी शैव सन्तों की वाणियों का संग्रह किया।

संबंधर (६३९ ई०) आलवार संत तिरुमंगाई के समसामयिक थे। अतः कोई सातवीं सदी के अंतिम भाग में(२७)तथा कोई मध्यभाग में इनका समय मानते हैं (२८)। ये तामिल गीत साहित्य में सबसे बड़े कवि माने गए हैं। दक्षिण के सभी शैव मंदिरों में इनकी मूर्ति आज तक पूजी जाती है। श्री सुन्दरम् पिल्ले इन्हें 'तामिल ऋषियों में सबसे श्रेष्ठ तथा लोक प्रिय संत' मानते हैं (२९)। दक्षि के शैवों में संबंधर से अधिक किसी का आदर नहीं। श्री वीरभद्र मुदलियर की सम्मति में 'संबंधर ने सैकड़ों प्रकार के छंदों में सुन्दर और सर्वांग पूर्ण जैसी कविता की है वैसी संसार साहित्य में किसी ने नहीं की (३०)।'

अप्पर ने (६०० ई०) अपनी कविताओं में धार्मिक उदारता, तीर्थाटन, पूजा-पाठ तथा बाहरी क्रिया-कलाप को त्याग कर निष्काम भक्ति पर जोर दिया। जैनों के समान

(२७) Sundrm Pillai:Some milestones of Tamil Literature.

(२८) Virbhadra mudaliar:Age of Sambandher of Timmangai

(२९) वही

(३०) वही

उन्होंने भी संस्कृत के बदले लोक भाषा में कविता प्रारम्भ की। उनके गीत 'देवरम्' में संग्रहीत हैं, जो कि 'लिखितवेद' कहा जाता है और शैवों का शास्त्र है। जैनों की अहिंसा का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा; किंतु इसके साथ उन्होंने शिव भक्ति छोड़ दी और शिव के भक्तों में घृणित समझे जाने वाले पुलया से लेकर पवित्र ब्राह्मण तक को एक बराबर स्थान दिया। अनेक अत्याचार किए जाने पर भी वे प्रह्लाद के समान अपने मत पर दृढ़ रहे।

अंतिम शैव संत माणिक्क वाचक नवीं सदी के प्रारंभ में उत्पन्न हुए। वे शंकराचार्य के समसामयिक माने जाते हैं। इन्होंने अपने काव्य 'कोवई' में पांड्य-राज वरगुण तथा लंका के बौद्धों के शैव होने का उल्लेख किया है। भक्ति में इनकी तुलना संत पाल और सन्त फ्रैंसिस से की गई हैं। "माणिक्क वाचक पांड्य राजा के मंत्री थे। ये शैव भक्तिमय गीतों के साथ नाचते गाते तथा बेसुध हो जाते थे। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती तथा उसी निर्बाध तल्लीनता में मूर्ति के सामने गिर पड़ते थे। जब वे शंकर के मायावाद की निंदा करते तब लोग उन्हें बुरा कहने के बदले उन्ही की ओर आकर्षित हो जाते थे। भगवान् चिदंबरम् के इस भक्त में अगाध भक्ति के साथ प्रकांड पांडित्य भी था जिससे वे सिंहल के बौद्धों तक को शास्त्रार्थ में जीत सके। अपने तामिल काव्य 'तिरुवचकम्'' में अपने उपास्य चिदंबरम् या। नटराज की सगुणोपासना प्रतिपादित करते हुए उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य का भी पूरा उपयोग किया है। उनका सिद्धांत था कि शास्त्रज्ञान, व्रत, उपवास क्रिया-कलाप तथा तत्वज्ञान से शिव प्राप्त नहीं हो सकते, वरन् भक्ति के तर्क या द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।

शैव साहित्य

इसके बाद १३वीं सदी में मकंदर ने "शिवज्ञानबोधम्" नामक ग्रंथ में शैवमत के सिद्धांतों का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया। इसमें केवल १२ सूत्रों में ये सिद्धांत संक्षिप्त रूप से ग्रथित हैं। इस ग्रंथ की प्रशंसा में कहा गया है कि "वेद गौ है, आगम उसका दुग्ध है। शैव संतों ने उसका घृत निकाला और 'शिवज्ञानबोधम्'' उसका स्वाद है।"

इसके बाद महत्व पूर्ण ग्रंथ अरुनंदी का "शिवज्ञानसित्तियर" है। इस ग्रंथ में १४ दर्शनों की समालोचना कर शैवमत की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। इस पर अनेक भाष्य हो चुके हैं, जिससे इसका महत्व जान पड़ता है। शैव मतपर तमिल में यह अधिकार पूर्ण ग्रंथ माना जाता है।

अंत में उमापति शिवाचार्य ने शैव मतपर ८ महत्व-पूर्ण ग्रंथ रचे जिसमें शैव सिद्धांतों का बड़ा अच्छा प्रतिपादन किया गया।

इन चारों संतों को संतान आचार्य नाम से अभिहित किया जाता है।

इनके अतिरिक्त बहुत से शैव संत हुए जिनमें पुरुष स्त्री तथा ब्राह्मण चांडाल सभी शामिल हैं। इनमें नंदनार, यलपानार अंत्यज जाति के महान् संत थे। नायनार राजा होकर भी अहिंसक था। शाक्य नायनार बौद्ध होने के बाद शैव हुआ। स्त्री सतों में काराईकल तथा अव्वाई प्रसिद्ध हैं। संत पट्टिनायर (दशवीं सदी) तथा तयुमानवर (१८ वीं सदी) का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिन्होंने इस परंपरा को जारी रक्खा। अंतिम संत ने वेदांत तथा शैवमत का अच्छा सामंजस्य किया।

कुछ लोगों का कहना कि दक्षिण में शैव मत वैष्णव मत की अपेक्षा पहिले प्रचलित हुआ, किंतु प्राचीन साहित्य से ऐसी कोई बात सिद्ध नहीं होती (३१)। साहित्य तथा ऐतिहासिक प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि दोनों मत साथ ही साथ प्रचलित रहे (३२)। कई गुफाओं में तो ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव, तीनों की मूर्तियाँ पाई जातीं हैं। प्राचीनतम मंदिरों में कृष्ण मंदिर भी पाए जाते हैं। चोल राजधानी कावेरीपट्टम् में कृष्ण बलदेव के मंदिरों के प्रमाण मिलते हैं। मदुरा में शिव और सुब्रह्मण्यम् (कार्तिकेय), व रामकृष्ण की मूर्तियाँ भी पाई जातीं हैं। पल्हव काल में मदुरा में जो तृतीय "संगम्" हुआ, उसके सभापति नारकिरर ने इन सबका उल्लेख किया है।

आळवार

शैव आदियार भक्तों के समान हमें वैष्णव आलवार भक्तों के काव्यों का पता लगता है। श्री राधाकृष्णन के अनुसार का अर्थ 'देवलीन' (Immersed in Deity) है (३३)। आलवारों का समय ईसा की दूसरी सदी से लगाकर आठवीं शताब्दी तक है (३४)। ये 'आदियरों' ही के समसामयिक थे तथा इनकी पूजा-पद्धति भी उन्हीं के समान मंदिरों में गीत-नृत्य प्रधान थी। काल के अनुसार ये भी तीन भागों में विभाजित हैं। प्रो० कृष्णस्वामी आयंगर के अनुसार इनका समय निम्नलिखित है :—

---

३१ Aiyanger – Earley History of Vaishnavism
३२ „ Some Contributions
३३ S. Radha Krishnan–Indian Philosophy p. 495
३४ Aiyanger–Some Contributions

प्राचीन			अंतिम	
पोयगाई आलवार	ई०पू०	४२०३	विप्रनारायण या	
भूयत्त या पूदम्	,,	,,	तोन्दिरादिप्पोडी ई०पू०	२८१४
पे	,,	,,	तिरुप्पन	२७६०
तिरुमेलिसाई	,,	,,	तिरुमंगाई	२६०६
मध्यकालीन				
नम्मालवार	ई०पू०	३१०२		
मधुर कवि	,,	,,		
कुल शेखर	,,	३०७५		
पेरी	,,	३०७५		
गोदा या अंदल	,,	३००५		

इनके गीतों का संग्रह "नालायिर प्रबंधम्" के नाम से प्रख्यात है। आगे चलकर इन संतों की वाणियों का संग्रह 'चतु:सहस्र प्रबंधम्' में संकलित किया गया। यह ग्रंथ वैष्णव वेद माना जाता है। इनकी शिक्षाओं में दो बातों की प्रधानता है :—

(१) भक्ति का द्वार सबके लिये मुक्त है।

(२) गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है।

इस समय के पहिले गुरु की आवश्यकता इतनी न समझी जाती थी। जान पड़ता है कि इस समय भक्तिशास्त्र इतना पेचीदा हो गया कि उसके यथार्थ रूप के प्रतिपादन के लिये गुरु की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उसी के बाद वैष्णव आचार्यों का उद्भव हुआ। प्रथम तीन संतों के नाम के सिवा उनका अधिक पता नहीं। चतुर्थ तिरुमेलसाई ने एक शूद्र को शिष्य बनाया था। इनके ५०० के लगभग गीत पाये जाते हैं। मध्य श्रेणी में नम्मालकर मुख्य हैं। मधुर कवि के सम्पर्क में आने के बाद नम्मालकर का कवित्व प्रस्फुटित हुआ। ये शूद्र जाति में उत्पन्न होकर भी भक्ति के

कारण सर्वश्रेष्ठ गिने गये। मधुर कवि की विद्वत्ता और नम्मालवार की प्रतिभा का सम्मिलन हुआ। कुलशेखर त्रावणकोर नरेश थे। उनका काव्य 'तिरुमोली' प्रसिद्ध है।

पांण्डय नरेश मल्लदेव के दरबार में पेरी या विष्णुचित अलवार ने शास्त्रार्थ में अपने विपक्षियों को हराया। अंदल या गोदा इन्हीं की पुत्री थी। ※ अंतिम श्रेणी के संतों में तिरुप्पन पारियाद या पंचमा थे। कथा प्रसिद्ध है कि तिरुप्पन को अंत्यज समझकर श्री रंगम् के मंदिर के भीतर नहीं जाने दिया जाता था। अतः वे मंदिर के बाहर ही कीर्तन किया करते थे। अंत में उनकी अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर लोगों ने उन्हें मंदिर में जाने दिया और उनके गीत 'प्रबंधम्' में शामिल किए गए। अंतिम संत तिरुमंगाई हैं। ये शूद्र (वेल्लाल) होते हुए भी इनकी कविताओं का संग्रह प्रबंधम् में है। इनकी छः कविताओं को 'तामिल वेदांग' कहा जाता है।

नम्मालवार, जो कि भारत, पराणकुसर, राष्ट्रकोपर तथा बकुलाभरण आदि नामों से विख्यात हैं वैष्णव भक्तों में प्रधान थे। नम्मालवार ही सबसे पहिले तामिल कवि थे जिन्होंने रहस्यवाद तथा भक्ति की कविता का प्रारंभ किया तथा व्यक्तिगत और प्रेम प्रधान धर्म का प्रचार किया। मधुर कवि ने नम्मालवार की मूर्ति स्थापन कर उसकी पूजा तथा मंदिरों में उनके गीतों के गायन का प्रबंध किया। इसके

※ इनके काव्य 'तिरुप्पवाई' तथा 'तिरुमोली' में मीरा के समान प्रेम तल्लीनता पाई जाती है। मीरा के समान वे भी श्री रंगनाथ को अपना पति मानकर उसी के प्रेम में पागल रहती थीं। इनने बाद विप्रनारायण ने अपनी भक्ति से यह सिद्ध किया कि महापापी भी भक्ति से मुक्त हो सकते हैं।

बाद श्रीरंगम् सरीखे वैष्णव पीठों तक में उनका प्रवेश हो गया। आगे चलकर तिरुमंगाई ने नम्मावार के गीत संग्रह "तिरुवयमोली" का गायन फिर से प्रारंभ कराया। नाथ मुनि के जीवन से भी इस प्रकार की घटना का उल्लेख है। रामानुज नाथ मुनि की पाँचवीं पीढ़ी में हुए। रामानुज का समय चोल राज्यकाल में १०१७ से ११३७ ई० माना जाता है। अतः नाथ मुनि का समय इससे १०० वर्ष पूर्व अवश्य होगा और तिरुमंगाई को इससे भी सौ दो सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए। कुलशेखर की कविताओं को चोल केरल (१०५० ई०) ने गाने का प्रबंध कराया था। राजराज द्वितीय (११५० ई०) के ताम्र लेखों से विदित होता है कि तिरुमंगाई के नाम को वैष्णव लोग धारण करने लगे थे। १००० ई० के उक्कल के शिलालेख में तिरुवयमोली देव की उपासना का उल्लेख है। इससे प्रगट होता है कि नम्मालवार के ग्रंथ ने इस समय तक इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी कि वह देवता के रूप में पूजा जाने लगा था। नम्मालवार ने वेदों के 'गुप्त रहस्य' को प्रगट करने का दावा किया है। उनकी रचनाएँ शैव वैष्णव विवाद या साम्प्रदायिक पक्ष पात से रहित है। इससे जान पड़ता है कि वे उस समय उत्पन्न हुए जब कि बौद्धमत और वैदिक मत में चढ़ा ऊपरी चल रही थी और आर्य धर्म में आंतरिक समन्वय की भावना काम कर रही थी। इन सब प्रमाणों से नम्मालवार का समय ५०० से ७०० ई० के बीच में माना जाता है।

इन्होंने चार काव्यों की रचना की जिनमें 'तिरुवय मोली' प्रसिद्ध है। श्री वैष्णव इन्हें चार वेदों के नाम से पुकारते हैं। वेदांत देशिक (१४वीं सदी) ने तो इन्हें

' द्रविड़ोपनिषद् ' का पद प्रदान कर दिया है। साहित्यिक सौंदर्य के साथ इनमें नैतिक और अध्यात्मिक उच्चता पाई जाती है। भावुक लोग इनसे भक्ति तल्लीनता तथा ज्ञानी लोग वेदशास्त्रों का प्रकांड ज्ञान एकत्र पाते हैं। इनमें वैदिक तथा द्रविड़ साहित्य का अद्भुत समन्वय है। इसी कारण श्री वैष्णव मत में इन ग्रंथों को प्रधान स्थान प्राप्त है तथा इन्हीं पर उसके सिद्धांतों का आधार है।

दक्षिण के हृदय प्रधान मार्ग तथा सगुणोपासना की सरस धारा बुद्धि प्रधान ज्ञान मार्ग की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतीत होती है जो कि श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद से संतुष्ट न हो सकी। दुरूह संस्कृत भाषा में ग्रथित उनका बुद्धिवाद, संसार के व्यवहारों से विराग तथा उच्च ज्ञान की भूमिका साधारण जनता के हृदयों को संतुष्ट न कर सकी। इसके बदले मातृभाषा में शैव तथा वैष्णव संतों के हृदयों से निकले हुए सगुण देव के प्रति प्रगट किये गये भक्तिपूर्ण उद्‌गारों ने जनता के हृदय पर अधिक असर किया। जब उनका उपास्य देव ही 'नटराज' था तब उसके उपासक क्यों न नृत्यगीत से उसकी उपासना करते ? आलवारों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। वैष्णव काव्य 'प्रबंधम्' प्राचीन 'देवरम्' की अपेक्षा भी अधिक लोकप्रिय हुआ। विषय की रोचकता के साथ संगीत लहरी शब्द-सौंदर्य, छंद और लय का प्रभाव सीधे हृदय पर पड़ता है। इसी कारण यह काव्य भाव और रस में सबसे उत्कृष्ट माना जाता है।

इस काल में मूर्ति पूजा का विशेष प्रचार हुआ। इस बात में काफी मतभेद है कि यह प्रथा दक्षिण में विदेशों से आई अथवा स्वयं द्रविड़ सभ्यता की उपज है। बौद्धकाल

के पूर्व हमें मूर्ति पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इस बात का उल्लेख हो चुका है कि कल्प सूत्रों ही में पहिले पहिल हमें मूर्तियों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध उसे दक्षिण से लाए अथवा गांधार आदि के संपर्क के कारण विदेशों से, इसके विषय में भी निश्चय मत निर्धारित नहीं किया जा सकता।

दूसरी विशेषता इस काल की यह थी कि पहिले आर्यों की पूजा पद्धति अधिकांश में व्यक्तिगत तथा पारिवारिक थी। किन्तु विशाल मंदिरों के निर्माण के कारण वह सार्व-जनिक और सामूहिक हो गई जिससे धर्म ने सामाजिक रूप धारण कर लिया।

दक्षिण के आदियार और आलवार, शैव और वैष्णवसंत जो कि सम सामयिक थे, उनकी वाणियों में हमें अद्भुत साम्य मिलता है। भारतीय लोक भाषाओं में उनकी रचनाएँ सबसे प्राचीन मानी जाती हैं। प्रांतीय भाषा में तमिल साहित्य ही में हिन्दू धर्म के प्रभाव से सबसे पहिले इनकी रचना हुई। अतः धार्मिक साहित्य में इनका महत्व बहुत अधिक है। अप्पर और नम्मालवार ये दो संत इनमें सबसे अधिक महत्व पूर्ण हैं। भक्ति की तन्मयता, ईश्वर और जीव संबंधी तत्वज्ञान का आकलन तथा रहस्यवाद में ये तमिल कवि भारतीय साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। वैष्णव आलवारों की वाणी ही के आधार पर आगे चलकर रामानुज ने अपना मत स्थापित किया। सगुण ब्रह्म की उपासना, प्रेम और आत्म समर्पण की भावना, सूत्र रूप से इन संतों की वाणियों में पाई जाती है। इन्हीं पर रामानुज का भक्ति पूर्ण विशिष्टाद्वैत स्थापित हुआ था जिसका प्रभाव उत्तर भारत तक के भक्ति आंदोलन पर पड़ा। इस प्रकार इन संतों का प्रभाव भारत व्यापी सिद्ध हुआ। (३५)

३५ Gavind Swamin – the Hoety Wisdom of the Dravid Saints.

तृनीय अध्याय

शैवों और वैष्णवों की समन्वय भक्ति

शिवोपासना

वेदों में रुद्र की अनेक स्तुतियां आई हैं जिनमें से एक सूक्त इस प्रकार है : "हे मरुत् के पिता रुद्र ! तुम्हारा मुख हमारी ओर होवे ! हमारे वीर शत्रुओं को पराजय दो ! तुम्हारी दी हुई सुखकर औषधि का योग हम सौ तरीके से खोजेंगे। हमारे पाप और रोग शून्य करो। कोमल मनवाले, और सुगम रुद्र देवता ! तुम हमें क्रोध के आधीन न करो। जिस प्रकार धूप से तपे हुए मनुष्य को छाया का आश्रय है उसी प्रकार पापों से मुक्त होने पर हमें रुद्र के सुखों का उपभोग होवे।"

पीत वर्ण पवित्र तथा बलशाली रुद्र की मैं स्तुति करता हूँ। नाना रूपी, पीत-वर्ण, उग्र रुद्र तेजस्वी, कांतिमान अंगों से युक्त शोभायमान है। नाना विधि के हार तुम्हें बहुत ही शोभा देते हैं। तुम्हारी अपेक्षा और कौन बलवान है? सिंह के समान भयंकर, शत्रुओं को नाश करने वाले रुद्र की स्तुति करो। बालक जिस प्रकार पास जाने वाले पिता को नमस्कार करता है उसी प्रकार हे रुद्र! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। रुद्र के प्राण घातक अस्त्र हमारी रक्षा करें। उनकी क्रोध और महा कठोर दृष्टि दूसरी ओर अर्थात् शत्रुओं की ओर बढ़े। हे उदार! उपासकों के लिये तू अपने धनुष को रख दे। हमारे बाल बच्चों को सुख दे। हे ज्ञानी रुद्र। क्रोधित मत हो हमें मारो मत। तुम यहाँ आकर हमारी पुकार सुनो।"

'अत्यंत कीर्तिमान् व भक्तों के ऐश्वर्य की बढ़ती करनेवाले, त्र्यंबक की हम उपासना करते हैं; जिस प्रकार डंठल से ककड़ी तोड़ते हैं, उसी प्रकार वह हमें मृत्यु से छुड़ाता और मुक्ति देता है। (ऋ० ७-६९-६२)

ऋग्वेद में 'शिव" शब्द बहुत कम पाया जाता है। इस शब्द का उपयोग कल्याण कर्त्ता के अर्थ में अन्य देवताओं के लिए भी उपयोग हुआ है। (१) केवल एकबार रुद्र को प्रसन्न करने में बहुत प्रयत्न की आवश्यकता होती है (२) रुद्र के बराबर कोई शक्ति शाली नहीं। एक मंत्र में उन्हें "वृषभ"

---

(१) ऋग्वेद १०- ९२ - ९,

(२) Macdonell . Vedic. Mythology page 77.

भी कहा गया है तथा "ईशान" युवान, "तस्थिवान्" और "उग्र" शब्दों का भी प्रयोग किया गया है; (३) धनुष और बाण उसके आयुध हैं। एक जगह उन्हें "कुमार" भी कहा गया है।

यजुर्वेद में असुरों पर रूद्र की विजय की और उनके त्रिपुर के नाश करने तथा यज्ञों में जबदस्ती प्रवेश कर दूसरों की बलि ग्रहण करने की कथाएँ भी पाई जाती है। आगे चलकर "शतरुद्रीय" में रुद्रशिव संबधी वैदिक कल्पनाओं को एकत्र किया गया और इसके आधार पर श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव संबंधी कल्पना और आगे बढ़ाई गई। इस उपनिषद् में देवों के ऊपर शिवकी महिमा बतलाई गई है, उन्हें ब्रह्म का स्थान दिया गया है तथा अरूप और सर्व व्यापी बतलाया गया है (४) वे देवाधिदेव हैं और हित अहित सब करने में समर्थ हैं। वे गिरीश हैं, और धनुषवाण धा ण करते हैं। वे ईशान ओर वरदायक हैं, सब देवों के आदि हैं, ऋषि हैं और सर्वोपरि महेश्वर भी हैं। उनसे हवि ग्रहण करके यजमान के जन और धन की रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। वे तप से प्राप्त हो सकते हैं। बिना उनके ज्ञान के दुःख नाश नहीं (५)। कल्याण मार्ग के लिये शिव और गुरु के प्रति भक्ति आवश्यक है (६)।

श्वेताश्वरतर उपनिषद् पूर्ण रूप से शिव परक ही है। उसमें विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण कौन है यह पहला

---

(३) ऋग्वेद २ – ३३
(४) श्वेताश्वतर ४ – १९
(५) ,, ६ – २०
(६) ,, ६ – २३

ही प्रश्न है। कुछ लोग कहते हैं कि मूल कारण काल है, कोई स्वभाव को बतलाते हैं, कोई नियति को, कोई यदृच्छा को, कोई पंचभूतों को व कोई पुरुष को बताते हैं। कोई इन सबके संयोग को, व कोई सबका कारण आत्मा को मानकर सृष्टि का मूल कारण (योनि) बताते हैं। (श्वेता० १-२) प्रस्तुत उपनिषद् ने आगे के अध्यायों में इन सब कारणों का निराकरण अद्भुत रीति से करते हुए कहा है:—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुय इमाँल्लोकानीशत ईशनीशिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोपांतकाले संसृत्य विश्वाभुवनानि गोपाः॥
(श्वे० ३-२)

अपनी नियामक शक्ति के योग से सब लोकों पर सत्ता चलाने वाला एक मात्र रुद्र है। सृष्टि के संहार काल में वह एकमेवाद्वितीय है। प्रभव काल में वही सबको उत्पन्न करता है। वह सभी ओर नेत्र तथा मुखवाला है। (विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो) वही सब कारणों का अधिपति है। उसका कोई उत्पन्न कार्य या अधिपति नहीं है। (न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः) वही सब भूतों की अन्तरात्मा सर्वव्यापी है, सब कुछ वही है। उसी को जान लेने पर मृत्यु से मुक्ति होती है। (मृत्योमुक्षीय मामृतात्) इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं (नाऽन्यः पंथा विद्यते अयनाय) वही सर्व व्यापी भगवान् सर्वगतशिव है (सर्व व्यापी सभगवां-स्तस्मात्सर्वगतः शिवः) उसके हाथ पैर सब ओर हैं। उसमें इन्द्रियों के गुणों का आभास है। 'सर्वत पाणि पादंतत्' 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' (श्वे० १-२)

बाद की संहिताओं में रुद्र को मरूत् देवताओं में प्रधान माना गया है। कहीं कहीं वे अग्नि के रूप भी माने गये हैं। भव, शर्व और काल जो कि पहले अलग अलग देवता थे

आगे चलकर शिवजी ही के भिन्न भिन्न नाम मान लिये गये। शत रुद्रीय में शिव को 'पशूनांपति' भी कहा गया है जिससे उनका पशु रक्षक रूप प्रगट होता है जबकि पहले रुद्र के कार्य से पशूओं की रक्षा की प्रार्थना की गई थी (७) आगे चलकर अभिनव शंकर ने अपने रुद्र भाष्य में पशु पति और पाश का नवीन अर्थ करके शैव सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जीव पशु है, और उसे माया के पास से छुड़ाने के लिए पशुपति की शरण में जाने की आवश्यकता है। सन्यासमय जीवन बिताकर ही रुद्र की प्राप्ति हो सकती है। इस सिद्धांत का ऋग्वेद में भी उल्लेख हो चुका था। (८) इसीको आगे बढ़ाकर सन्यास प्रधान शैव मत की प्रतिष्ठा हुई।

इस बात में संदेह किया जाता है कि रुद्र वैदिक देवता है या नहीं पार्वत्य अनार्य जातियों में लिंग पूजा आदि का प्रचार देखकर कुछ लोग अनुमान करते हैं कि अनार्यों ही से आर्यों ने लिंग पूजा ग्रहण की। रुद्र का भयंकर रूप और उनकी पूजा से पशु बलि आदि का सबंध देखकर भी यह अनुमान पुष्ट होता है। वेदों में एक जगह इन लिंग पूजकों (शिश्ने देवा) के विरुद्ध इंद्र की सहायता मांगी गई है। (९) मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा आदि स्थानों में लिंगपूजा के चिन्ह पाए जाने से भी यह बात और भी पुष्ट होती है। इन लोगों में लिंग पूजा प्रचलित थी, अतः सिद्ध किया जाता है कि वैदिक धर्म या आर्यों ने इन्हीं से लिंग पूजा ग्रहण की।

---

(७) मानस्तोके तनये मानो गोषु रीरिषः

(८) ऋग्वेद १०–१३६

(९) „ ७–२१–५। १०–९९–३

पहले तो यही बात संदेह जनक है कि सिंधु की सभ्यता आर्यों की थी अथवा अनार्यों की। बहुत से इसे भी आर्यों की सभ्यता ही मानते हैं। (१०) दूसरे "शिश्नदेवाः" शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि वे लोग ऐसे भयंकर जीव थे जिनके विरुद्ध आर्यों ने इंद्र से सहायता मांगी (११) तीसरे ये लिंग पूजक भी अनार्य न होकर आर्य भी हो सकते है (१२) कीथ ने सिद्ध किया है कि बिना प्रमाण के यह बात जानना कठिन है कि कौनसी बात आर्य है और कौनसी अनार्य। (१३) सर जान मार्शल की सिंधु-सभ्यता संबंधी खोजों की भी काफी आलोचना की गई है (१४) यह बात भी ठीक नहीं कि शिव लिंग-पूजा अनार्योंकी लिंग पूजा ही से चुराई गयी है जैसा कि भंडारकर समझते हैं (१५)

दोनों में समानता होने ही से यह भ्रम उत्पन्न हो गया है। किंतु अधिक संभव यह है कि जिस प्रकार शालग्राम विष्णु पूजा का चिन्ह माना गया उसी प्रकार लिंग पूजा भी शिव का चिन्ह मान लिया गया। लिंग पुराण में इसका आरंभ बतलाते हुए एक कथा है जिसमें शिव एक अग्नि के स्तम्भ के रूप में बतलाए गए हैं। जान पड़ता है इसी से

---

(१०) E. F. Orton : Links with the past

(११) Muir: O. S. T. 4 page 411

(१२) R. G. Bhandarkar : Vaishanavism p. 150

(१३) Keith : Religion and philosophy of the Veda page 629.

(१४) The cultural Heritage of India vol II page 22, 23

(१५) Bhandarkar : page 114, 115

लिंग कल्पना का उद्भव हुआ। उसी पुराण में यह भी वर्णन है कि मूर्ति पूजा केवल संपत्ति देने वाली है जब कि लिंग पूजा मुक्ति प्रदात्री है। इससे स्पष्ट है कि साकार मूर्ति की अपेक्षा लिंग ही निर्गुण निराकार शिव का प्रतीक माना गया है। लिंग पूजा के संबंध में बार्थ साहब का कथन स्मरणीय है :—"भारत वर्ष में देवताओं के जितने भी प्रतीकों का का अनुमान किया गया है उन सब में लिंग पूजा सब से कम खटकने वाली है। (१६) वासव सरीखे कुछ धर्म प्रचारकों ने तो लिंग पूजा को मूर्ति पूजा के विरुद्ध प्रचार करने का साधन भी बनाया था।

बाद के उपनिषदों में शिव का उल्लेख और अधिक मिलता है। अथर्व शिरस् उपनिषद् में भस्म लेपन को पाशुपत व्रत कहा गया है जिससे पाशु (बन्धन) से पशु (जीव) की मुक्ति होती है। इसी प्रकार कैवल्य उपनिषद् में मुक्ति के लिए शिवयोग का विधान किया गया है। शैव मत का सांख्य के तत्व ज्ञान से और योग की क्रिया से घनिष्ट संबंध है। शैवों के सन्यास से बौद्ध धर्म का भी घनिष्ट संबंध माना जाता है।

आगे चलकर शैव मत में पाशुपत सैद्धांतिक आदि अनेक संप्रदाय चल पड़े। आगम नामक साहित्य भी इसी से उदित हुआ जिन्हें शैव आगम भी कहा जाता है। कुछ लोगों ने वेदों की बराबरी का माना (१७) और उसके दो विभाग किये—एक तो तीन वर्णों के लिये और दूसरा सर्व साधारण के लिये इसके विरुद्ध अप्पय दीक्षित आदि विद्वान् इन शैवागमों को अवैदिक मानते हैं और इन्हें "महाशास्त्र" के

(१६) Barth : Religion of India Page 262
(१७) श्रीकंठ : ब्रह्म सूत्र भाष्य २–२–३८

नाम से पुकारते हैं जिसे शिव ने साधारण लोगों के लिए ऊँचे वैदिक मार्ग तक पहुँचने के लिए सरल मार्ग के रूप में प्रचलित किया। (१८) अप्पय दीक्षित के अनुसार जो लोग गोबध के कारण महापापी ठहराकर समाज से बहिष्कृत कर दिये गए थे उनके द्वारा लौकिक स्तोत्रों से प्रार्थना करने पर शिव ने इन आगमों की रचना की। कूर्म पुराण में शुद्ध पाशुपतयोग को वेदों का सारांश बताकर प्रशंसा की गई है और नकली पाशुपात की निंदा की गई है। वायुपुराण भी "कामिक" और "शुद्ध" आगमों में इसी प्रकार का भेद करता है। बाराह पुराण तो 'अवैदिक" पाशुपत पंथ की कड़ी निंदा करता है। इसके बाद महाभारत में पाशुपत पंथ को भी सांख्य, योग आदि के समान ईश्वर तक पहुँचने का एक मार्ग मान लिया गया है।

पाशुपत मत के प्रवर्तक लकुलीश नामक प्रचारक माने जाते हैं। इस मत के सिद्धांतों का उल्लेख माधव ने अपने सर्व दर्शन संग्रह नामक ग्रथ में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से किया है। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के मथुरा के शिलालेख से यह बात सिद्ध होती है कि ईस्वी सन् ३८० में उदिताचार्य ने अपने गुरुओं की मूर्तियाँ स्थापित की थीं। उदिताचार्य लकुलीश के शिष्य परम्परा में दसवें शिष्य थे। इससे पाशुपतों की परंपरा प्रगट होती है। त्रिपुरी के कलुचुरी राजाओं के शिलालेखों से भी प्रगट होता है कि वहाँ पाशुपत मत का प्रचार था। इनके गुरु रुद्र-शिव भी इसी पंथ के थे। जो कि अपना संबंध दक्षिण से बतलाते थे। यहाँ पाई गई

(१८) अभिनव शंकर :—शतरुद्रीय भाष्य

मूर्तियों से शैव पाशुपत सैद्धांतिक और कापालिक नामक चार शैव पन्थों का पता लगता है। इनके अतिरिक्त मत्त मयूर नामक पंथ का भी पता लगा है जिनका संबंध मधु मती (मालवा) से था। यह शाखा सैद्धान्तिकों ही का एक संप्रदाय जान पड़ती है। (१९) महाभारत में पांचरात्र मत का उल्लेख है। उसके अनुसार वह पाशुपत मत ही है। उसमें सांख्य, योग, वेदांत, पाशुपत व पांचरात्र को स्पष्ट रूप से पांच ज्ञान कहा गया है। पाशुपत दर्शन में २५ तत्व और ११ अधिक तत्व मिला कर ३६ तत्व मानते हैं। ब्रह्मदेव के पास सब जीव पशु हैं। मल, कर्म, माया, जगत्, और विरोधक शक्ति-इन पाँच पाशों से बँधे हुए जीव पशुओं को सर्वज्ञता आदि शक्तियों से शिव ही छुड़ाते हैं। यही पाशुपतमत का मुख्य दर्शन है। सुदूर, जावा, सुमात्रा द्वीपों में फाह्यान में पाँचवीं सदी में पाशुपतों का उल्लेख किया है। (१९)

तामिल संत तिरुमूलर ने अपने ग्रंथ तिरुमंदिरम् में शैव मत के चार विभागों का उल्लेख किया है :— शुद्ध, अशुद्ध, मार्ग और कडुमशुद्ध।—

इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि पाशुपत या शैव संप्रदाय के वैदिक और अवैदिक दो प्रधान भेद प्राचीन समय से चले आये थे। इनमें पहले तो कुछ संघर्ष रहा किंतु आगे चलकर उनका एक ही में समन्वय हो गया, जिससे उन्होंने एक दूसरे की पूजा पद्धतियाँ ग्रहण करलीं। आर्येतर

---

(१९) विशेष विवरण के लिए देखिए "त्रिपुरी का इतिहास" पाशुपत पंथ, पृष्ठ १३७ से १४४तक।

जातियों की लिंगपूजा और आर्यों की रुद्र शिव पूजा के समान इन दोनों का समन्वय हो गया। यह भी हो सकता है कि अवैदिक लिंगपूजा ने ही आगे चलकर पाशुपत नाम ग्रहण कर वैदिक रुद्रोपासकों से समता करने का प्रयत्न किया हो।

सबसे पहले शिव पूजकों का उल्लेख मेगस्थनीज ने अपने यात्रा विवरण में किया है। पतंजलि ने भी (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी) शैवों में कठोर तप के प्रचार का उल्लेख किया है। उन्होंने शिव भागवतों का उलेख भी किया है, जो कि त्रिशूल लिए घूमा करते थे। शिव स्कंध और विशाख की मूर्तियों का भी उल्लेख महाभाष्य में पाया जाता है।

शैव मत के साथ शाक्त मत का भी प्रचार होता रहा। यद्यपि शक्ति की कल्पना शैवों की विशेषता नहीं है किंतु शक्ति संबंधी भावना ने शैव मत ही में सबसे अधिक विकास का क्षेत्र पाया।

पाशुपत और शाक्त इन दोनों मतों के समन्वय के लिए 'सोम सिद्धांत' नामक पंथ का उदय हुआ, जिसने दोनों के सिद्धांतों को लेकर मिलाने का प्रयत्न किया। (२१)

इसके बाद १२ वीं शती में विज्जल ने लिंगायत संप्रदाय का प्रचार किया। इनका मुख्य उद्देश्य जाति भेद का विरोध करना था।

शिव पूजा का सब से पहिला ऐतिहासिक प्रमाण हमें मोहन-जो-दड़ो की खुदाई से मिलता है। वहाँ की सिंधु

---

(२०) Religions of India page 199

(२१) प्रबोध चन्द्रोदय नाटक तीसरा अंक।

तटवर्त्तिनी सभ्यता चाहे वैदिक काल के पीछे की मानी जाय तो भी आज से ५-६ हजार वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है। मोहन-जो-दड़ो में शिव की मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। योगावस्था में ध्यानी-शिव की मूर्त्ति के चारों ओर पशुओं का समाज दिखलाया गया है। जिससे उनका पशु-पति होना सिद्ध होता है। उनके मस्तक पर तीन रेखाएँ हैं जो आगे चलकर त्रिशूल का रूप धारण कर लेती हैं। दूसरे प्रकार की मूर्त्तियों में त्रिमुख शिव है जिन से त्रिमूर्त्ति का बोध होता है। शिव लिंग भी वहाँ प्राप्त हुए हैं। (१०) ई० पू० १ली शती में बेक्ट्रियन राजा अपलद्तस तथा शक नृपति मोस की मुद्रा पर वृषभ चिन्ह अंकित हैं। पार्थियन राजा गोण्डाफर निस के सिक्के पर भी वृषभ अंकित हैं।

ईसा की पहिली शती में कुषाण वंशी राजा वीम के सिक्के पर त्रिशूलधारी महादेवजी नन्दी पर सवार हैं। कनिष्क बौद्ध होते हुए भी उसके सिक्के पर चतुर्भुजी शिव की मूर्ति अंकित है तथा इन सिक्कों पर ईशो (oesho) और मयासेनो (Maaceno) नाम मिलते हैं, जिनसे ईश और "महेश" का बोध होता है। दो सौ वर्षों तक सिक्कों पर यही मूर्ति पाई जाती है।

इसके बाद नाग वंशी राजाओं ने भार शिव नाम से मध्य भारत में राज्य स्थापित किया। ये भी शिव के उपासक थे। गुप्त काल में यद्यपि विष्णु पूजा का प्राधान्य था तो भी उस समय शिव लिंग पाये गए हैं जो कि कुमार गुप्त के समय के सिद्ध हुए हैं। इस शिव पूजा के प्रभाव से प्रभावित

(१०) Mohenjo daro Vol I. A. V.

होकर बाहरी जातियों ने भी शैव धर्म स्वीकार किया। हूण मिहिरकुल के सिक्के पर वृषभ की मूर्ति और "जयतु वृषः" अंकित मिलता है।

गुप्तों के बाद मौखरि राजाओं के लेखों पर महेश्वर उपाधि तथा नंदी का चित्र मिलता है। बौद्ध धर्म के विरोधी शशांक राजा के सिक्कों पर भी शिव नंदी के चित्र मिलते हैं। बलभी के राजाओं ने भी अपनी ध्वजा पर वृषभ चिन्ह को अंकित किया था। ओहिन्द के राजा भी शैव थे। राजपूताना में भी शिव-पूजा प्रचलित थी। वहाँ दक्षिण में तंजोर के चोल राजा 'राज राजा' ने राजराजेश्वर का शिव मंदिर बनवाया था।

इस प्रकार सातवीं से दसवीं शताब्दी तक तो शिव पूजा का विशेष प्रचार रहा। (११)

दक्षिण में शैव मत का प्रचार बहुत प्राचीनकाल से दीखता है। पह्लव राज्य में इसकी काफी उन्नति हुई। शैव और मंदिरों के साथ शैव साहित्य का भी निर्माण हुआ। जिसकी चर्चा अन्यत्र की जायेगी। इसी प्रकार चोल राज्यों में भी इसकी पूर्ण उन्नति हुई। कहा जाता है कि चोल राजा भी उत्तर से शैवमत को दक्षिण में लाए थे। राजेन्द्र प्रथम के शिला लेख से प्रगट होता है कि उसने मत के आचार्य भोग के लिए बड़ी संपत्ति लगाई और घोषित किया कि उससे आर्य देश, मध्यदेश, तथा गाड़ देश के शैवों को वृत्ति मिले। इससे देश भर में शैव मत के प्रचार का पता लगता

---

(११) शिवोपासना की प्राचीनता (कल्याण शिवांक पृ० ३९९)

है। भारत के दक्षिण ही में नहीं किंतु पूर्वीय द्वीप समुदाय में भी शैवमत का प्रचार था जिसका प्रमाण फाहियान के यात्रा विवरण से मिलता है। हिंद चीन में स्थापित चंपा राज्य के शासक भी शैव थे। भद्रवर्मन् नामक राजा ने सन् ईस्वी ४०० में भद्रेश्वर मंदिर का निर्माण कराया। इसके साथ ही के नगर में भगवती मंदिर का निर्माण कराया। इसके साथ ही नगर में भगवती मंदिर के भी प्रमाण मिले हैं। कामबोज देशमें भी शैव मत के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। यहाँ पर स्कंद आदि की मूतियाँ पाई गई हैं।

इस प्रकार सुदूर दक्षिण से सुदूर उत्तर काश्मीर तक शैवमत का प्रचार मिलता है। नवीं शती से लगातार काश्मीर में शैव साहित्य प्राप्त होता है। ज्येष्ठेश्वर शिव स्वामिन् आदि के प्राचीन मठ और मंदिर इस बात के प्रबल प्रमाण हैं।

वैदिक साहित्य में विष्णु

यद्यपि ऋग्वेद काल में इंद्र अग्नि इत्यादि देवताओं को मुख्य माना गया है तो भी शिव और विष्णु का भी उल्लेख मिलता है। विष्णु के नाम ऋग्वेद में सैकड़ों बार आए हैं। उन्हें इंद्र का मित्र कहा गया है। वृत्रासुर को मारने और दस्युओं के पराभव के हर एक कार्यों में विष्णु ने अपने तीन पग से समस्त विश्व को नाप डाला। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक उनके तीन पग हैं। इसी कारण वे त्रिविक्रम कहलाये; उनकी देह विशाल है; वे 'उरुगाय व उरुक्रम' हैं। उनका निवास स्थान स्वर्ग है। वहां धर्मिष्ठ लोग आनन्द पूर्वक रहते हैं, ऐसा वेदों में वर्णन किया है। उनके सहचर मित्र आदित्य को 'गरुत्मंत्' व 'सुपर्ण

(गरुड़ पक्षी) कहा है और विष्णु व इन्द्र के पर्वत चोटी पर बैठने से उन्हें गिरिक्षित', गिरिष्ठ या गिरीश भी कहा गया है।‡ विष्णु ने तीन पग से पृथ्वी नाप ली थी इससे वे मनुष्यों के रहने के लिए स्थान देने वाले तथा आपत्तियों में फँसे हुओं को संकट-मुक्त करने वाले हैं। इसी ऋग्वेद के मंत्र के आधार पर ब्राह्मण ग्रंथों में वामन अवतार की कथा लिखी है। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के मत्स्य कच्छ, और वामन–तीन अवतारों की कथा वर्णित है। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु का माहात्म्य अग्नि से भी अधिक बताया है। विष्णु और शिव के लोक प्रसिद्ध नाम ऋग्वेद के 'खिल सूक्त' में आये हैं। खिल सूत्र में 'अच्युत, गोविंद, माधव, चक्री हृषीकेश, अमृतेश, वासुदेव, केशव, कृष्ण आदि कृष्ण के नाम हैं। इस प्रकार से संहिता और और ब्राह्मण दोनों कालों में विष्णु के पूज्य होने के संबंध में कोई शंका नहीं है। अरण्यक तथा उपनिषद् काल में भी वे पूज्य थे।

वेदों में विष्णु का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है, यथा :— "जो विष्णु तुम्हारे कृत्य देखते हैं उन विष्णु का जरा पराक्रम देखो। इंद्र के वे परम मित्र हैं—'इंद्रस्य युज्यः सखा' विष्णु का अत्यंत श्रेष्ठ पद ज्ञानी लोग सदा अवलोकन करते हैं :—'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'।

वह पद मानों आकाश में खुला हुआ उसका नेत्र ही है।※ दूसरे सूक्तों में कहा है : "अब मैं विष्णु के पराक्रम गाता हूँ। उन्होंने पृथ्वी आदि सब लोकों का निर्माण किया है; और, तीन पग में सबको नाप भी लिया है। समर्थ

※ ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त २२, मंत्र १९-२०,

‡ तैत्तिरीय संहिता (३–४–५)

विष्णु को बल और स्त्रोत्र मिले क्योंकि जिसने यह विस्तीर्ण जग तीन ही पग में नाप लिया। उसने द्युलोक तथा सब जग धारण किया है। जहाँ देवभक्त आनंद में रहते हैं ऐसा उनका प्रिय स्थान मुझे प्राप्त होवे। वे सबके बांधव हैं, उनके सर्व श्रेष्ठ स्थान में अमृत का झरना हैं। † "विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः यत्रदेव यवो मदन्ति"। "समर्थ, तारक, शत्रुरहित व उदार विष्णु का पराक्रम हम गाते हैं। इनके दोनों ही चरण देखकर मनुष्य इनका भजन करता है, तीसरा चरण कोई भी नहीं जान सकता। महा शरीर वाले विष्णु वेग से वेगवान हैं। खोज करने पर इसकी प्राप्ति होती है। = दूसरे सूत्र में लिखा है : "हे विष्णु! तुम हमें मित्र के समान सुखदायक हो। तुम घी पीने वाले महाभाग्यवान्, रक्षण करने के लिये तुरंत ही दौड़ने वाले, सर्वव्यापी हो। विद्वानों द्वारा स्तुति करने योग्य हो। तुम नित्य सृष्टिकर्त्ता व नित-नूतन हो। जो तुम्हें हवि देता और तुम्हारे पूज्य जन्मों की कथा गाता है वह कीर्तिमान् होकर श्रेष्ठ पद पाता है।" यह भी कहा है, "हे विष्णु! हम केवल, दो लोक पृथ्वी और अंतरिक्ष को जानते हैं, इसके दूसरे ओर के लोकों को जानने वाला केवल तू ही है। तुम्हारी महिमा का पारावार भविष्य अथवा भूत का कोई भी नहीं जानता। जो अनेकों द्वारा प्रशंसित विष्णु को हवि देता है, सुन्दर स्तोत्रों से उसकी उपासना करता है, उसे धन प्राप्त होता है। हे इच्छा पूरक विष्णु! तुम हमें हितकारी व निर्दोष सद्बुद्धि प्रदान करो। बहुत और

---

† (ऋ. १-२२-१५४)
= (ऋ. १-२२-१५५)
* (ऋ. १-२२-१५६)

आल्हादकारी संपत्ति की हमें सहायता दो। तुम प्राचीनों में प्राचीन हो, ऐसा पुराण पुरुषों का कथन है। जन्म को सफल करने वाले विष्णु ने भक्तों के लिये पृथ्वी का विस्तार किया है।"×

"ॐ वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि। तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो भूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः"। (७-९९-७) 'हे विष्णो! मैं मुख द्वारा तुम्हारी स्तुति करता हूँ। हे शिपिविष्ट (किरण शाली तेजो निधि!) मेरी हवि स्वीकार करो। अपने श्रेष्ठ स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी प्रशंसा करता हूँ। (हे देव!) तुम सदा अपने मंगल आशीर्वाद से हमारा कल्याण करते रहो।'

ऋग्वेद के इन सूत्रों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आगे वेदों की हजारों स्तुतियों पर इन्हीं का प्रभाव है अब विष्णु का यह सूक्त आदित्य के लिये पूर्ण रूप से लागू होता हो तो भी इसमें विष्णु के व्यापक स्वरूप का वर्णन है। येतरेय ब्राह्मण में 'अग्निर्वै देवानाभवमो विष्णुः परमः" आदि से सब देवताओं में विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध की है।❀

विष्णु-उपासना

किसी किसी ने अग्नि वायु तथा सूर्य इन तीन वैदिक देवताओं ही को शंकर ब्रह्मा तथा विष्णु की त्रिमूर्ति में परिणत होना सिद्ध किया है। (१२) वैदिक साहित्य में

× (ऋ. ७-९९-१०० सूक्त)

❀ मराठी वाङ्मयाचा इतिहास (पृ. १७१-१७४)

(१२) पं० शिवशंकर कृत 'त्रिदेव निर्णय"

विष्णु शब्द पर ब्रह्मा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इसकी कल्पना सूर्य ही से जान पड़ती है। आगे गीता (१३) महाभारत (१४) तथा विष्णु पुराण (१५) में भी विष्णु को १२ आदित्यों में से एक माना गया है। यास्काचार्य ने भी विष्णु का अर्थ सूर्य ही किया है। विष्णु के तीन पद (१६) प्रभात, मध्याह्न तथा सायंकाल अथवा पृथ्वी द्यौ और अन्तरिक्ष तीन गतियाँ ही है। इसीसे उनका नाम त्रिविक्रम (१७) पड़ा, जिसके आधार पर पुराण में बामनावतार की कल्पना की गई। किरणें ही सूर्य की वाहन हैं तथा किरणों का पर्यायवाची "सुपर्ण" (१८) भी है। इसी आधार पर गरुड़ की कल्पना की गई। आकाश मण्डल सूर्य का आधार है। उसका दूसरा नाम 'समुद्र' (१९) भी है। इसी कारण विष्णु क्षीर शायी माने गए। 'अप:' शब्द का एक अर्थ आकाश भी होता है इससे "नारायण की कल्पना उत्पन्न हुई। (२०) सूर्य के अनेक रंगों में श्याम रंग नयनाभिराम होने तथा आकाश नील वर्ण होने के कारण भी "नीलाम्बुज

---

(१३) आदित्यानामहं विष्णु: (गीता)

(१४) पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादशा स्मृता:। महा०आदि १२३-६६

(१५) तत्र विष्णुश्च शक्रश्च आदित्या द्वादशा स्मृता: ॥ विष्णु० अं १०-१५

(१६) त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णु र्गोपा अदाभ्य: (ऋ.मं.१सू २२ मं. २८)

(१७) स्योरुषु त्रिषु त्रिविक्रमेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा त्रिर्दिव: पृथिवीमेष विचक्रमे (ऋ. ७–१०१–३)

(१८) सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मय: (यास्क)

(१९) अम्बरं सगर: समुद्र: (निघण्टु)

(२०) आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव: ।
तोयदस्यापनं पूर्वं तेन नारायण: स्मृत: ॥ (मनु० १–१०)

श्यामल कोमलांगम्" की कल्पना दृढ़ हुई। शोभा निधान होने ही के कारण लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी माना गया। (२१) आकाश के अनंत नाम हो के कारण इन्हें शेषशायी माना गया।

सूर्य के व्यापकत्व के कारण ही विष्णु भी द्व्यापक माने गये (२२) चारों दिशाओं में किरणें फैलने ही के कारण चतुर्बाहु (चतसृषु दिक्षु भुजाः किरणाय यस्य) की कल्पना की गई।

कीथ के अनुसार वेदों में यज्ञ रूप विष्णु की (२३) पुराणों में यज्ञ बाराह के रूप में प्रगट हुई (२४) परमात्मा की नाभि में आपः (आकाश) द्वारा धर्म धारण के वर्णन के आधार पर ही पुराणों में विष्णु के नाभि कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति की कल्पना की गई होगी। (२५) इसी मंत्र में विष्णु को लोकाधार भी माना गया है। इसी के अनुसार पुराणों ने भी उन्हें लोक चालक माना है (२६) यजुर्वेद और ब्राह्मणों में यज्ञों के महत्व के साथ विष्णु का महत्व भी बढ़ता गया। शतपथ ब्राह्मण में वह यज्ञ रूप ही बन गया (२७) उपनिषदों

---

(२१) श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहो रात्रे० (यजु० ३१-३२)

(२२) यद्विक्षितो भवति तद्विष्णु विष्णुः विशते

विष्णोःव्यापन शीलस्य देवस्य (यास्क)

"समुद्रः कस्मात्सामुद्रवनयस्मादापः (यास्क निरुक्त २-१०)

(२४) केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ् इंडिया (पृ. १४५)

(२५) मत्स्यपुराण (अ. २४९)

(२६) तमिद् गर्भं प्रथमं दध्रु आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे।

अजः नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

(२७) Macdonell : Vedic Mythology p. 39.

में विष्णु के परम पद प्राप्त की इच्छा ने (२८) विष्णु के महत्व को और भी बढ़ा दिया (२९) ब्राह्मणों और गृह्य सूत्रों में विष्णु विवाह संस्कार के प्रधान अधिष्ठाता बन गये (३०)

विष्णु के परम पद के आधार पर वैकुण्ठ लोक की कल्पना की गई। सत्-चित्-आनन्द—इन तीन गुणों में से वैष्णव धर्म में आनंद पर अधिक जोर दिया गया। वह अमृत रूप है। उसके पद आनंदमय हैं और उसका परम पद भक्तों का ध्येय है।

ऋग्वेद में एकेश्वरवाद के समर्थक मंत्र वरुण के संबंध ही में अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वरुण को आदित्यों में प्रधान भी कहा गया है। विष्णु भी आदित्यों में प्रधान माने गए हैं। इस प्रकार वरुण और विष्णु आगे चलकर एक हो गये। विष्णु का सागर शयन तथा नारायण (जल में भवन) इसी वरुण की कल्पना से संबंध रखते जान पड़ते हैं।

ऋग्वेद में "भग" ऐश्वर्य के देवता माने गए हैं। आगे चलकर "भग" भी वरुण की तरह विष्णु से एक रूप हो गए और भागवतों की अष्टैश्वर्य युक्त भगवान् का लोक रंजक रूप व्यक्त हुआ।

जब वैदिक काल में विविध देवों को एक ईश्वर के अनेक रूप मानकर उनके एकीकरण का प्रयत्न हुआ, तब विष्णु, इन्द्र, यम पूषन् आदि देवताओं से एकाकार हो गए। पुरुष सूक्त के यज्ञ पुरुष, जो कि संसार से एक रूप हैं, और यज्ञ के द्वारा "हिरण्यगर्भ" सृजन कर उनका पालन करते हैं, विष्णु

---

(२८) शतपथ ११-३-९

(२९) तद्‌ विष्णो: परमंपदं

(३०) शतपथ १-२-५

रूप हो गए। आगे चलकर यही एकेश्वरवाद उपनिषद् का भी धार हुआ।

उत्तर वैदिक काल के ब्राह्मण आदि में यह पुरुष तथा हिरण्यगर्भ कल्पना और आगे बढ़ी। अब "पुरुष" नारायण और नर से एक रूप हो गये। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पुरुष नारायण ने अपनी आत्मा में विश्वको रक्खा और विश्व में अपनी आत्मा को स्थापन किया।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में जो विष्णु एक प्रधान देवता थे, वे पुराणों में सर्वश्रेष्ठ रूप धारण कर लेते हैं। वैष्णव पुराणों में त्रिमूर्ति भी महाविष्णु ही की तीन शक्तियाँ हैं। वे ही तीन रूपसे सृजन, पालन और विनाश करते हैं। (३१) विष्णु इन तीनों से परे परब्रह्म स्वरूप हैं। (३२) वही वैष्णव धर्म के मुख्य आराध्य देव हैं; और, उनके लोक-पालक, कल्याणमय रूप ही के आधार पर जगमंगलकारी वैष्णव धर्म की स्थापना हुई। विश् धातु का अर्थ ही 'वह तत्व है जो सब जगत् में प्रविष्ट हो'। इसी कारण विष्णु जगत् रूप भी हैं। (३४) सारा विश्व विष्णु मय है (३५) और, जगत् उनके बारह स्वरूपों में से एक रूप है। अतः विष्णु-रूप— जगत् का कल्याण करना भी वैष्णवों का धर्म हो जाता है।

---

(३१) तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्र रूपी जनार्दन: ।
मैत्रेयाखिल भूतानि भक्षयत्यति भीषण: ॥

(३२) ततस्तत् परम ब्रह्म परमात्मा जगन्मय: ।
सर्वग: सर्व भूतेश: सर्वात्मा परमेश्वर: ॥

(३३) यस्माद्विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मन: ।
तस्मात् स प्रोच्यते विष्णुर्विशधातो: प्रवेशनात् ॥

(३४) विष्णो: सकाशा भूतं जगदत्रैव च स्थितं ।
स्थित संयम कर्ताऽसौ जगतो ऽस्य जगच्च स: ॥

(३५) सर्वं विष्णु मयं जगत्। (विष्णु पुराण प्रथमांश)

चतुर्थ अध्याय

इतिहास पुराण में समन्वय

क्रिया कलाप तथा कर्म काण्ड के विरुद्ध ज्ञान प्रधान उपनिषदों ने जो लहर चलाई थी, आगे बौद्ध तथा जैन धर्मों ने भी उसी सुधारवाद का अनुसरण कर उसे और भी व्यापक बनाया। बौद्धों ने देव पूजा और पितृ पूजा के स्थान पर आत्म पूजा तथा सदाचार को ही प्रधानता दी; किंतु, यह केवल उच्च वर्णों ही में प्रचलित हो सकी। जातकों से पता लगता है कि साधारण जनता में बौद्ध देवी देवताओं की पूजा का प्रचार जारी रहा। उपनिषदों ने सांसरिक सुखों की अनित्यता का प्रतिपादन कर आत्म सुख और आत्म ज्ञान की ओर झुकाया। बौद्धों और जैन तीर्थंकरों ने ज्ञान और वैराग्य को प्रधानता दी। किन्तु, उनका झुकाव शून्यवाद और निरीश्वर

वाद की ओर था। इतना होते हुए भी बुद्ध ने इसी सनातन धर्म (सनन्तनो धम्मो) 'पुराने पंडितों के धर्म' (पोराणक पण्डिता) और आर्य मार्ग (अरियं मग्गं) की दुहाई देकर दुःख, दुःख की उत्पत्ति, दुःख का नाश तथा उसके लिये सदा चार प्रधान आर्य अष्टांगिक मार्ग के उपाय ही का प्रतिपादन किया। (३७)

कामनाओं की व्यर्थता को देखते हुए लौकिक सुख तथा स्वर्ग देने वाले यज्ञादि का प्रतिवाद होना स्वाभाविक ही था। कर्म मार्ग छोड़कर संसार से विरक्त, कर्मफल का सिद्धांत तथा निष्काम भाव से जनसेवा करने का उपदेश बुद्ध ने दिया। तप स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य के वैदिक सिद्धांत जैनों और बुद्धों को समान रूप से मान्य थे। जैन तीर्थंकरों ने तप का उच्चादर्श अपने जीवन और उपदेशों द्वारा विशेष रूप से प्रतिपादित किया। उधर बुद्ध ने एक ओर विषय सुखों की 'अनार्यता, ग्राम्यता तथा अनर्थकता' अनुभव की और दूसरी ओर इंद्रिय शोषक उग्रतपों की व्यर्थता देखकर मध्यममार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश दिया (३८)

उच्च वर्णों में सीमित धर्म को सर्व साधारण को सम्पत्ति बनाने का श्रेय भी बुद्ध को है। इसी के प्रचार के लिए उन्होंने भिक्षु संघ स्थापित कर धर्मचक्र (धम्मचक्क) का सारे संसार में प्रवचन किया और आदेश दियाः—

---

(३६) भारतीय यतिहास की रूपरेखा पृष्ठ ३००

(३७) दुक्खं दुक्ख समुप्पादं दुक्खस्य च अतिक्कमं ।
अरियं चट्ठंगिकं मग्गं दुक्खूपसम गामिनं ॥
(धम्मपद)

"भिक्षुओ ! अब तुम जाओ, घूमो, बहुजनों के हित के लिए बहुजनों के सुख के लिये, देवों और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो। तुम उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याण है, मध्य में कल्याण है, और अन्त में भी कल्याण है।" (३९)

बुद्ध भगवान् के बाद हीनयान तथा महायान थे। इसके बाद सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदायों का जन्म हुआ और भगवान् के उपदेशों का तीन भागों (पिटक या पिटारों) में संग्रह होकर "विनय" "सुत्त" तथा "धम्म" के साहित्य का निर्माण हुआ। विनय अथवा आचार सम्बन्धी नियम "विनय पिटक" में तथा धम्म अथवा धार्मिक उपदेश "सुत्त" पिटक में संगृहीत हुए। अभिधम्म में दार्शनिक विचारों का संग्रह हुआ। अथवा "शील संबंधी शिक्षा विनयपिटक में, चित्त विषयक उपदेश सूत्र में, और प्रज्ञा संबंधी शिक्षाएँ अभिधम्म में सुरक्षित हैं।" बुद्ध ने जिन तीन मार्गों का (यानों) का उपदेश किया था उसमें से प्रथम अर्हत् यान तथा पच्चेक यान (अपने लिए बोध) को "हीन यान" समझकर नागार्जुन ने अंतिम मार्ग सम्मासंबुद्धयान) को महत्व दिया और उसे ही "महायान" कहा क्योंकि उसमें सबके लिए उपयुक्त ज्ञान था। इसी के अंतर्गत असंग और वसुबन्धु नामक महान्-विद्वान् हुए जिनके आधार पर शंकर के अद्वैतवाद की रचना मानी जाती है।

---

(३८) महावग्ग (१-१) (३९) महा० (४-१)

राजनीतिक अवस्था

भगवान् बुद्ध ने अध्यात्मिक क्षेत्र में जिस चतुर्दिशि और सार्व भौम धर्म-संघ की नीव डाली थी उसी का अनुकरण कर राजनीतिक क्षेत्र में (५ वीं सदी ईसा पूर्व) भारतीय नरेशों ने चतुरंत सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का आदर्श स्थापित किया। बौद्ध सन्यास और अहिंसा के आदर्शों की यह प्रतिक्रिया मात्र थी। छोटे छोटे राज्यों के स्थान पर साम्राज्यों की स्थापना के लिये संघर्ष चलने लगा।

राजनीतिक अवस्था का प्रभाव धार्मिक जीवन तथा साहित्य पर भी पड़े बिना नहीं रहा। अर्थ शास्त्र, जिसमें राजनीति शास्त्र भी सम्मिलित है, का विकास होने लगा। चौथी सदी के अंतिम भाग में कौटिल्य ने अर्थ शास्त्र लिखा जिसमें उसने १८ आचार्यों की परम्परा का उल्लेख किया। उसने आन्वीक्षि की (दर्शन) त्रयी (धर्माधर्म) वार्ता (अर्थ विज्ञान) तथा दण्डनाति (राजनीति) का उल्लेख भी किया है। (४०) साम्राज्य विस्तार के युग में अर्थ और राजनीति शास्त्र को महत्व मिलना स्वाभाविक ही था। वार्हस्पत्य तथा औशनस् आदि ऐसे संप्रदाय चल पड़े थे, जो वैदिक त्रयी की अपेक्षा राजनीति ही को अधिक महत्व देते थे।

इतिहास का महत्व भी इतना बढ़ गया था कि वह पंचम वेद माना जाने लगा था (४१) और उसकी गणना त्रयी के परिशिष्ट रूप में की जाने लगी थी, त्रयी धर्म भी चारों वर्णों और आश्रमों को अपने धर्म में स्थापित करने ही

---

(४०) आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्च पञ्चमा। (अर्थ०)

(४१) इतिहास पुराणं च पंचमो वेद उच्यते (महाभारत)

के कारण उपयोगी माना जाता था। (४२) कौटिल्य ने तो पुराण के अतिरिक्त धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का भी समावेश इतिहास में कर दिया (४३) पहिले इतिहास पुराण ही के अंतर्गत माना जाता था और दोनों का नाम साथ साथ लिया जाता था। गृह्य सूत्रों में भी 'पुराण' का उल्लेख मिलता है। इस युग में राजनीतिक महत्व के कारण पुराण से इतिहास को अलग कर उसे स्वतंत्र रूप दिया गया। महाभारत इसका प्रमाण है।

महाभारत का समन्वय

इस युग के आदर्शों का मूर्त्त रूप हमें महाभारत और रामायण में मिलता है। इनके प्रथम रूप इसी युग की रचानाएँ हैं। (४५) इन्हीं संस्करणों को कारण उसका वह विशाल रूप हो गया। अथवा जर्मन विद्वान् विण्टरनित्ज़ के शब्दों में "अपने आप में पूर्ण एक समग्र साहित्य" महाभारत को भारतीय संस्कृति का विश्व कोष कहा जावे तो अनुचित न होगा। वह "पंचम वेद है, इतिहास है, स्मृति है, शास्त्र है और साथ ही काव्य है।"

अर्थ शास्त्र, धर्म शास्त्र, काम शास्त्र और मोक्ष शास्त्र

(४२) अर्थ० १-२

(४३) अर्थ० १-५

(४४) आपस्तंव आदि गृह्यसूत्रों में भविष्य पुराण आदि के उद्धरण देखकर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इनके एक दो शताब्दी पूर्व पुराण का सूत्रपात हो चुका था।

(४५) भारतीय इतिहास की रूप रेखा पृ० ४३१

ो का विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में किया गया इनके परस्पर विरोधी समझे जाने वाले सिद्धांतों समन्वय कराना ही महाभारत का उद्देश्य जान ता है। समाज की संपूर्णता के लिए इन सभी की वश्यकता थी। इन का उचित मात्रा में संकलन ही उन्नति मूलमंत्र है। अर्थ शास्त्रों में केवल अर्थ, धर्म सूत्रों में केवल र्म, काम सूत्रों में केवल काम तथा उपनिषदों और बौद्ध स्त्रों में मोक्ष धर्म को महत्व दिया गया था।

गीता का समन्वय

गीता महाभारत रूपी समुद्र का सबसे उज्वल रत्न । समन्वय की दृष्टि से इसका महत्व हमारे साहित्य में बसे अधिक है। 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' नामक दो मार्गों साथ साथ कर्म ज्ञान और उपासना ये तीनों मार्ग अलग-लग चलते आ रहे थे। कभी एक का और कभी दूसरे का ौर कभी तीसरे का प्राबल्य होता रहा। कर्म मार्ग के ठोर नियमों तथा विधि विधानों के स्थान पर बुद्धि प्रधान ान मार्ग का प्रचार हुआ। किंतु, जब वह भी जन समाज ी पहुँच के बाहर हो गया, तब सर्व सुलभ, भक्ति मार्ग का दय हुआ। इन्हीं विभिन्न दर्शनों तथा प्रणालियों और मार्गों का समन्वय कर, वृन्दावन के गोपाल नन्दन ने सब पूर्व ान को गीता रूपी पात्र में दुहा और भारत रूपी बछड़े को पलाकर पुष्ट-बलिष्ट बनाया। सर्व समन्वय ही के कारण साहित्य में गीता एक अमर कृति है। लोकमान्य तिलक के ब्दों में "ज्ञान मूलक भक्ति प्रधान निष्काम कर्म योग" ही गीता का मुख्य संदेश है।

सर्वभूतनिवास एक ईश्वर की उपासना के द्वारा मनुष्य मात्र ही नहीं, प्राणि मात्र की एकता प्रतिपादन करना गीता का काम था।

'सर्वभूतस्थितं योमाम् भजत्येकत्वमाश्रितः।'
'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'
'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः सम दर्शिनः।'

—आदि अमर मंत्रों में गीता का सन्देश निहित है। एकत्व दर्शन का फल ही समदर्शन होता है।

गीता का विराट् रूप प्राचीन वैदिक देवताओं के "अनेकधा प्रविभक्त" रूपों में एकरूपता देखने का ही प्रयत्न है। (४६) अनेक देव, उन्हीं देवाधिदेव के रूप में दीखते हैं। वायु, यम, वरुण, शशांक प्रजापति, वसु, मरुत अश्विनीकुमार सभी उसी में हैं। (४७) इतना ही नहीं बल्कि नदी-पर्वत, भूत-नाग, देव-पितर, सिद्ध-ऋषि, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, यक्ष-गन्धर्व, ग्रह-नक्षत्र, आदि सभी आर्यों और अनार्यों के उपास्य देव उसी की विभूतियाँ मानकर उसी विराट रूप में समन्वित किए गए हैं। (४८) पाणिनि व्याकरण (ई. पू. ४००) से प्रगट होता है कि उस समय इन सब देवताओं की मूर्तियाँ भी बनने लगी थी।

---

(४६) तत्रैकस्थं जगत् सर्वं प्रविभक्त मनेकधा।
अपश्यद्देव देवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥ (गीता ११)

(४७) वायुर्यमोऽग्निर्वरुणश्शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपिता महश्च।
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा॥ (गीता ११)

(४८) गीता १० अध्याय

त्रिमूर्ति की कल्पना उस समय तक विकसित नहीं हुई थी; किंतु, उनके पूर्व रूप गीता में पाये जाते हैं। विष्णु स्वतंत्र देव नहीं किंतु आदित्यों में से एक हैं। उसी प्रकार शंकर भी रुद्रों में से एक हैं। हाँ ब्रह्मा की स्थिति अवश्य अलग मानी गई है। (४६) इसी प्रकार जप-तप यज्ञ-याग ज्ञान-ध्यान, प्राणायाम आदि उपासना विधान उसी के भिन्न-भिन्न साधन मान लिये गए। उन सबको 'यज्ञ' में सम्मिलित कर यज्ञ को पुराने संकीर्ण अर्थ के बदले व्यापक अर्थ प्रदान किया गया। दर्शनों का स्पष्ट वर्गीकरण उस समय तक नहीं हुआ था। गीता ने सांख्य और योग का उल्लेख कर दोनों का समन्वय किया है। उसमें सांख्य को सन्यास तथा योग को कर्मयोग के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उसके ३१ तत्वों में से २४ तत्वों तो कपिल सांख्य शास्त्र के अनुसार और बाकी सात वैशेषिक के अनुसार आत्मा के गुण हैं। सांख्य के 'पुरुष' के साथ गीता ने पुरुषोत्तम योग जोड़कर उसे नवीन रूप दे दिया।

निरीश्वरवाद के स्थान पर आस्तिकवाद की स्थापना कर दी गई है। उसमें बौद्धधर्म के उदय के पहिले के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों ही का परिपाक नहीं है बल्कि उपनिषदों के साथ "सुत्त निपात" आदि बौद्ध ग्रंथों के विचारों का उस पर काफी प्रभाव दीख पड़ता है। (५०) नारायणीय

---

(४९) 'आदित्यानां अहं विष्णुः।' 'रुद्राणां शंकरश्चास्मि' ब्राह्मणमीशं कमलासनस्थं। इत्यादि (गीता)

(५०) भगवद्गीतासूपनिषत्सु जो गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में संकल्प आता है जिसमे भी यही सूचित होता है। अहिंसा और बौद्धधर्म से तुलनात्मक अध्ययन के लिये "बुद्धमीमांसा" द्रष्टव्य है।

धर्म जो कि महाभारत द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म का रूप था, वह गीता में और भी स्पष्ट हो गया। कुछ लोग उसकी रचना उस समय की मानते हैं जब वासुदेव को भागवत धर्म में प्रधान स्थान तो मिल चुका था किंतु नारायण या विष्णु का अवतार नहीं माना गया था, और न उनके चतुर्व्यूहों की कल्पना की गई थी। (५१) किंतु, गीता के कुछ स्थलों से यह भी सूचित होता है कि कृष्ण और विष्णु एक रूप हो चुके थे (५२) वैदिक काल में वसु चैद्योपरिचर ने हिंसात्मक यज्ञों के विरुद्ध जो आंदोलन उठाया था और जिसे उपनिषदों के ज्ञानमार्ग और बौद्धों के आचार मार्ग ने आगे बढ़ाया, उसी सुधारवाद को वासुदेव कृष्ण ने गीता में परिपुष्ट किया। उसमें कामनाओं की पूर्ति के लिये हिंसात्मक यज्ञों के स्थान पर ज्ञान-यज्ञ को ऊँचा स्थान दिया गया। बुद्ध ने जिस प्रकार "धम्मचक्क प्रवर्त्तन का उपदेश दिया (५३) उसमें देवों और मनुष्यों तथा समाज के सब वर्णों की परस्पर भावना के लिये यज्ञचक्र प्रवर्त्तन का सिद्धान्त ही प्रधान था। (५४)

एकेश्वर वाद के आधार पर समयानुसार जिन जिन बातों की आवश्यकता थी, उसको गीता ने प्रतिपादित किया। बौद्ध धर्म के प्रभाव से देश में अहिंसावाद और सन्यास की जो बाढ़ आई, उस के दुरुपयोग से देश कायर

---

(५१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृष्ठ ४३४।

(५२) एकादश अध्याय।

(५३) एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(५४) परस्परं भावयन्तः श्रेयःपरमवाप्स्यथ।

तथा उदासीन हो रहा था। उससे बचाने के लिए गीता में नये ढंग से धर्म की व्याख्या की गई और वैदिक कर्म कांड तथा काम्य कर्म के स्थान पर यज्ञार्थ निष्काम कर्म की महत्ता बतलाई गई। इसी प्रकार सन्यास और कर्मयोग दोनों के समन्वय का अभूतपूर्व प्रयत्न भी गीता ने किया। इससे देश में नवीन जीवन का संचार हुआ।

देश में सन्यास मार्ग की प्रबलता के कारण क्षत्रियों ने भी स्वधर्म छोड कर भस्म रमाना और मूंड़ मुँड़ाना शुरू कर दिया था। गीता ने क्षत्रियों को फिर से स्वधर्म में प्रेरित कर वर्णाश्रम धर्म के सच्चे रूप को प्रगट किया। (५५) उसने बतलाया कि केवल ब्राह्मण या क्षत्रिय ही वर्णाश्रम के मूल नहीं, बल्कि वैश्य व शूद्र भी, जिन की अभी तक उपेक्षा होती आई थी, उसके महत्वपूर्ण अंग हैं। उसके सर्व सुलभ भक्ति मार्ग में स्त्री वैश्य तथा शूद्रों सभी को समानाधिकार प्रदान किया। (५६)

रामायण

महाभारत के साथ रामायण पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है।

रामायण को वैदिक साहित्य के बाद पहिला आर्ष काव्य कहा जाता है। संसार के समूचे साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय राष्ट्रीय काव्य-ग्रंथ नहीं हैं। संपूर्ण भारतीय साहित्य इस महाकाव्य द्वारा अनुप्राणित है।

---

(५५) स्वधर्मे निधनंश्रेय: परधर्मो भयावह:

(५६) स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्।

रामायण के काल के संबंध में भी मतभेद है महाभारत को वर्तमान रूप प्राप्त होने (ई. की ४थी सदी) से एक दो शताब्दी पहिले ही रामायण को वर्तमान रूप प्राप्त हो गया था और उसका प्रभाव महाभारत पर भी पड़ा। इससे अनुमान है कि रामायण उत्तर कालीन समाज के कवि की रचना है तथा महाभारत पूर्वकालीन समाज थी। (५७)

यह महाभारत का समकक्ष ग्रंथ समझा जाता है। इसमें महाभारत के समान धर्म की व्याख्या नहीं की गई, किंतु उस उस धर्म को एक महान जीवन में उतारकर उसे साकार स्वरूप दिया गया है। उसमें महाभारत की युद्धोचित भाषा के स्थान पर 'कोमल कांत पदावली' की छटा है। इसी कारण वह संस्कृत का प्रधान काव्य माना गया है। रामायण में महाभारत के क्षात्र तेज के साथ मनुष्य के हृदय की कोमलता मिश्रित है। क्षत्रिय सदा, सब समय कठोर क्षत्रिय नहीं रहता; वह कठोर प्रशस्त एवं वक्षःस्थल के भीतर सुकोमल तथा विशाल हृदय रखता है। रामायण का संदेश है कि क्षत्रियत्व के ऊपर भी एक वस्तु है, और वह है मनुष्यत्व, बाहुबल से प्रबलतर भी एक बल है, और वह है चरित्रबल, शुष्क राजनीति से ऊपर भी एक नीति है और वह है प्रीति-नीति। रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नारद के प्रथम प्रश्न ही से प्रगट हो जाता है।

'चारित्र्येण च को युक्त सर्वभूतेषु को हितः।'

---

(५७) हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १७१

,, ,, पृष्ठ १७२

चरित्र या शील ही से संसार का सबसे अधिक हित-साधन होता है।

महाभारत मुख्यतया इतिहास है—ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं तथा घटनाओं का घटाटोप, राजाओं की वंशावलियाँ, उनके आपसी युद्धों की भीषणता तथा रणभूमि का शंखनाद उसमें गूंजता है। रामायण में वर्णित सभ्यता उतनी युद्धप्रिय नहीं जितनी महाभारत में वर्णित सभ्यता है। बीच बीच में अमूल्य राजनीति के उपदेश रास्ता बतलाते हैं और धर्म को निर्मल निर्दोष शांति प्रदान करते हैं। रामायण भी इतिहास है, किन्तु वह एक मनुष्य का इतिहास है; — चरित्र के क्रम-विकास का इतिहास। वाल्मीकि ने राम को राजपुत्र तथा महापुरुष ही माना है, ईश्वर नहीं। क्षत्रियत्व की उनमें कमी नहीं है। लक्ष्मण कहते हैं :—

'न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तंभहेतवः॥
अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम्।'

किन्तु, इस वीरता से भी बढ़कर उनके चरित्र की वह वीरता है, जो सीताहरण के समय राम से कहे गए इस वाक्य से प्रगट होती है :—

केयूरे नैव जानामि नैव जानामि कंकणे।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

इसके ऊपर कोमलांगी सीता की वह वीरता है जो वनगमन के समय उनके मुख से कहलाती है:

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गवनमद्यैव राघव !
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ।'

महाभारत के कुछ पुरुषों के बहुपत्नीत्व और कुछ स्त्रियों के बहुपतित्व (५८) के विरोध में रामायण की सीता का यह सतीत्व है जो कहता है कि—

'तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वास्था त्वयासह ।'

राम का एक पत्नी-व्रत है जो बोल उठता है.—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं व्रणे।
ऐश्वर्यं चांभि लोकानां काम येन त्वयाविना ।'

और इन दोनों के मणि-कांचन-संयोग में भरत के निर्मल चरित्र का वह सुहागा है जिसे देख कर 'रामायण गौण होकर भरतायण बनजाता हैं' :—

स्मृतियाँ का सन्तुलन

इस समय सारे भारत पर एक छत्र साम्राज्य स्थापन करने की भावना ने और भी प्रबलता धारण की और मगधादि में नंद और मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य स्थापन होने पर वैदिक अश्वमेध का फिर से प्रचलन हुआ और क्षत्रित्व के दिग्विजय और सार्वभौम आदर्शों को प्रेरणा मिली। इससे सारे समाज में एक नवीन जाग्रति की लहर फैल गई। अशोक के धर्म बिजय के बाद गुप्तों की दिग्विजय ने राष्ट्रीय

(५८) अब यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि द्रौपदी का वह पतित्व असत्य हैं (देखिये "द्रोपदी का बहु पत्नीत्व" (नागरी प्राचारिणी पत्रिका)

एकता का अपूर्व साधन किया। राज्य स्थापन के उपरान्त अर्थ और धर्म की व्यवस्था के लिये धर्मसूत्रों और अर्थ शास्त्र कि आधार पर स्मृतियों की रचना शुरू हो गई। धर्म सूत्र धर्मप्रधान और अर्थशास्त्र राजनीति प्रधान थे किंतु इन स्मृतियों ने दोनों का संतुलन कर वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों, अधिकारों, नियमों तथा धर्मों की व्यवस्था की। इस युग में सामाजिक जीवन और भी जटिल हो गया। वर्णों की भिन्न भिन्न श्रेणियाँ, जातियों का रूप धारण करने लगी थीं और व्यवसायों के अनुसार उनका श्रेणियों में वर्गीकरण होने लगा था। आर्थिक जीवन के बढ़ने पर आपसी विवादों के निपटारे के लिये राज्यशक्ति की आवश्यकता पड़ी और आपस में किए गए ठहरावे (समयाचारिक) का पालन कराने के लिए नियमों और (उनका पालन न करने पर) दण्ड की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। विष्णु मनु, तथा याज्ञ-वल्क्य आदि ने इन व्यवस्थाओं को अपनी स्मृतियों में व्यवस्थित रूप से संकलित किया। इन पर भी बौद्ध साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है। इसी समय बोधि सत्वों और तीर्थंकरों के आदर्श पर अवतारवाद तथा मूर्तिपूजा का प्रचार भी प्रारंभ हो गया था।

दर्शन समन्वय

धर्मसूत्र में हमें न्यायविदों का उल्लेख मिलता है। (५९) बोधायन में हमें मीमांसकों का वर्णन मिलता है (६०) कौटिलय ने योग सांख्य और लोकायित (चार्वाक) मत दर्शनों को आन्वीक्षकी में सम्मिलित किया है तथा धर्मशास्त्रों में

(५९) आप० २—४—८—१३
(६०) बोधि १-१—८

परस्पर विरोध होने पर न्याय को प्रमाण माना है (६१) इस प्रकार न्याय या तर्क शास्त्र का प्रारंभ हो चुका था।

कनिष्क के समय प्रसिद्ध वैद्याचार्य चरक ने न्याय तथा सांख्य के विचारों का अनुसरण किया है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि इन दार्शनिक पद्धतियों का प्रारंभ ईसा की पहिली शताब्दी में हो चुका था।

गौतम और उसके बाद का समय मौर्य युग में माना जाता है। जैकोबी उन्हें नागार्जुन (१५० ई०) के बाद का मानते हैं। नागार्जुन महाकोशल का निवासी तथा अश्वघोष का उत्तराधिकारी था। जो भी हो, सांख्य के विचार चरक (१ ली सदी) में अवश्य मौजूद थे। सत, रज, तम इन तीन तत्वों के सिद्धान्त सांख्य ही की देन है। मूल रूप में सांख्य निरीश्वरवादी है, किन्तु योग दर्शन ने उसी का अनुसरण कर उसके परिणामवाद को आस्तिक रूप दे दिया है।

सांख्य के "पुरुष विशेष" को योग ने निरतिशय ज्ञान का भण्डार बताकर उसे "पुरुषोत्तम" बना दिया। पातंजल योग दर्शन का समय सात वाहन युग में ही माना जाता है। कौटिल्य ने भी मीमांसा का उल्लेख किया है; किंतु वेदान्त का नहीं। कुछ लोग गीता में उल्लिखित "ब्रह्मसूत्र" को बादरायण का वेदांत सूत्र मानते हैं तथा कुछ "पराशर्य भिक्षु सूत्र" समझते हैं? किंतु, यह तर्क सिद्ध नहीं। वेदांत सूत्र भी सात वाहन युग के अंत के माने जाते

---

(६१) न्यायस्तत्र प्रमाणंस्यात् (अर्थ.३—१)

है। (६२) वेदांत ने योग दर्शन के "पुरुषोत्तम" को परमेश्वर से एक रूप कर दिया। शंकराचार्य ने इसी आधार पर वैदिक वाङ्मय की व्याख्या की। षट्दर्शन भारतीय विचारों की गहनता तथा क्रम विकास के ज्वलंत प्रमाण हैं। इन दर्शनों को समझने के लिये उन पर लिखे गए भाष्य भी बहुत महत्व पूर्ण हैं। इनमें सबसे पहिले शबर भाष्य (पूर्व मीमांसा) उसके बाद क्रमशः न्याय पर वात्सायन भाष्य, वैशेषिक पर प्रशस्तपाद भाष्य, योग पर व्यास-भाष्य (पाँचवीं सदी) सांख्य पर ईश्वरकृष्ण की सांख्य कारिका (४७८ ई०) तथा वेदांत सूत्र पर श्रीशंकर रामानुज मध्व विष्णुस्वामी वल्लभाचार्य आदि के भाष्य हैं।

शुंग वंशीय पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध के पुनराहरण की कथा पुराणों में लिखी है। इस युग ही को इतिहासकारों ने अश्वमेध पुनरुद्धार युग कहा है। सात वाहन, गुप्त, भार शिव, वाकाटक आदि सभी राजाओं द्वारा अश्वमेघ यज्ञ करने के प्रमाण हमें इतिहास में मिलते हैं। इससे जान पड़ता है कि सन्यास की प्रतिक्रिया रूप देश में राज्य शक्ति प्रबल तथा साम्राज्य विस्तार की लालसा प्रबलतर हो रही थी। महाभारत का अश्वमेध भी इसी समय की रचना (१७५ ई० पूर्व) माना जाता है। रामायण का दूसरा संस्करण भी इसी युग की कृति समझा जाती है।

पुराण का समत्व

इसी के बाद पुराणों का युग आता है। इनके समय

(६२) भारतीय इतिहास की रूप रेखा पृ १२६–१३०

तथा कर्त्तांश के विषय में बहुत मत भेद हैं।(६३) महाभारत तथा रामायण आदि के समान इनमें भी कई भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न भिन्न समयों की गई रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसी कारण इनका आकार बढ़ता चला गया। भिन्न-भिन्न पुराणों में प्रत्येक पुराण की श्लोक संख्या के विषय में भी बड़ा मत भेद है। बाद के प्रक्षिप्त अंशों के सम्मिलित होने ही से यह भेद संभव है। पुराणों के पंच लक्षण प्रसिद्ध ही हैं :—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
ईशानुचरितं चैव पुराण पञ्चलक्षणम्॥"

सर्ग और प्रतिसर्ग में विश्व की उत्पत्ति तथा लय, वंश में ऐतिहासिक वंशावलियाँ तथा इति-वृत्त मनवन्तर में कल्प कल्प की ऐतिहासिक अनुभुति, तथा ईशानुचरित में अवतारों की कथाएं सम्मिलित है। इनके अतिरिक्त वर्णाश्रम पारिवारिक तथा व्यक्तिगत धर्म, संप्रादायिक वृत, उपवास, तीर्थाटन, माहात्म्य रूपकों द्वारा नीति शिक्षा, भूगोल, खगोल ज्योतिष विज्ञान आदि सभी कुछ इन पुराणों में भर दिया गया है।

किन्तु, इनमें भी शिव और विष्णु के लोकरंजनकारी तथा दुष्ट निधनकारी मंगलमय रूप पर जनता का ध्यान अधिक केंद्रित हुआ और उनके अवतारों के चरित्र पुराणों में विशेष रूप से वर्णित किए गए। अवतार का कारण बतलाते हुए विष्णु पुराणों में कहा है :—

(६३) पार्जीटर कुछ पुराणों को ईसापूर्व मानते हैं। जैकसन ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व पुराण नामक किसी ग्रन्थ का अस्तित्व मानते हैं म. म. हर प्रसाद शास्त्री के मत से ईसा की पाँचवीं सदी तक पुराणों की रचना हो चुकी थी।

"सर्वथैव जगत्यर्थ स सर्वात्मा जगन्मयः।"

बौद्धों के बुद्ध और जैनियों के ऋषभ देव को २४ अवतारों में सम्मिलित कर नवीन भागवत धर्म ने अपनी उदारता तथा संकलन शक्ति का परिचय दिया। इसके साथ मूर्ति पूजा का भी प्रचार हुआ और निर्गुण के स्थान पर सगुण साकार विष्णु के अवतारों की उपासना चल पड़ी। इनमें भी राम और कृष्ण के अवतार अधिक समयोपयोगी तथा मानव चरित्र युक्त होने के कारण अधिक प्रचलित हुए।

साधारण जनता तक जिसकी वेद शास्त्र तक पहुँच नहीं थी उस तक प्राचीन ज्ञान सरल भाषा में पहुँचाना ही के लिए पुराणोंकी रचना की गई थी। इसी कारण उनमें सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उपाख्यानों का आश्रय लिया गया। प्रत्येक बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण के रूप में प्राचीन इतिहास या आख्यान उद्धृत किया जाता है :— "अत्राप्युदाहरन्तीह इतिहास पुरातनम्" इस इतिहास में पुराण (घटनाएँ) पुरानी चली आई हुई गाथाएं (पुराणस्य-गाथा) की सम्मलित मनुष्य का वृत्तान्त (नाराशंसी) समझा जाता था। (६४) वेदों और वेदांगों में जो "इतिहास पुराण" का उल्लेख है (६५) वह कोई ग्रंथ विशेष नहीं जान पड़ता

---

(६४) तमितिहासश्च पुराणश्च गाथाश्च नाराशंसी श्चानुव्यचलन्। (अथर्व १५, ६, ११, १०)

(६५) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह (अथर्व ११, ७, २४) एवमिमे सर्ववेदाः निर्मिताः ऐतिह साः सान्वयाख्याता सपुराणाः (गोपथ २)

सोयमिति किञ्चत् पुराणमाचक्षीत (शतपत १३, ४, ३, १३)

बल्कि सृष्टि वादन करने वाले वाक्य ही पुराण समझे जाते थे। (६६) किन्तु, आगे चलकर व्यासों ने (कथा वाचकों) जिनमें द्वैपायन व्यास मुख्य थे, इन कथाओं का संग्रह संहिताओं के रूप में किया।

महाभारत भी इसी पुराण की एक संहिता थी। (६७) पुराणों में, भी पुराण का एक शास्त्र रूप ही माना है। (६८) जिसे लोगों के भूल जाने पर व्यास बार बार संग्रह करते हैं। मत्स्यपुराण में प्रति द्वापर में व्यास द्वारा ४ लाख श्लोकों के पुराण संग्रह करने तथा उसी के १८ पुराणों में विभक्त होने का उल्लेख किया गया है। (६९) जिससे जान पड़ता है कि यह विस्तार भिन्न-भिन्न सामयिक आवश्यकताओं कि पूर्ति के लिए किया गया होगा।

धर्म समन्वय

बौद्ध धर्म से उपादेय सिद्धांत लेकर प्राचीन आर्य धर्म को फिर से चेतना प्रदान की गई। यह नया धर्म न तो काम्य-कर्म प्रधान ब्राह्मण धर्म रह गया और न ज्ञान-प्रधान उपनिषद् का ऋषि-धर्म; किन्तु, भक्ति प्रधान भागवत या नारायणीय धर्म के नवीन रूप में प्रगट हुआ। महाभारत में

---

(६६) सर्ग प्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम् सायण

(६७) द्वैपायनेन यत् प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा।
भारतस्येतिहासस्य ... ॥
... ... संहितांश्रोतुमिच्छाम:।
(महाभारत आदिपर्व १)

(६८) पुराणं शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् (मत्स्य पुराण)

(६९) मत्स्य० अ० ५३

जिसका सूत्र पात हो चुका था पुराणों में उसी का विस्तार हुआ। वेद उपनिषदों का अलख अगोचर ब्रह्म त्रिमूर्ति के रूप में सामने आया और पुराणों का विभाजन वैष्णव तथा शैव में होते हुए भी दोनों मतों का समन्वय इनमें मिलता है। ×

प्रीयणाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥
(भा. ७-७)

(अ०—उसके लिये ब्राह्मणत्व ऋषित्व या देवत्व काफी नहीं है। उसकी प्रसन्नता के लिये दान, तप, यज्ञ शौच या व्रतों की आवश्यकता नहीं। वह तो केवल भक्ति से प्रसन्न होता है। बाकी सब विडम्बना मात्र है)

भागवत

अन्य पुराणों की अपेक्षा इसमें अन्य कई विशेषताएं हैं। एक तो इसकी भाषा अन्य पुराणों से अधिक क्लिष्ट होने के साथ ही अधिक कवित्व पूर्ण है। दूसरे, इसमें समान केवल एक संप्रदाय-शैव या वैष्णव, की पुष्टि न कर सभी का समन्वय किया गया है। अन्य अवतारों की अपेक्षा इसमें श्रीकृष्ण चरित्र का अधिक विशद वर्णन किया गया है। वेदान्त की जितनी छाप इस पर पड़ी है उतनी अन्य पुराणों पर नहीं। इतने पर भी ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता स्थापित करना तथा उसे आर्य-अनार्य ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष बालक-वृद्ध सबके लिए एक समान सुलभ बना देना इसी पुराण का कार्य

× नालं द्विजत्वं देवत्वं ऋषित्वं वाऽसुरात्मजाः

था। भक्ति युक्त चण्डाल को भी गुण युक्त ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ बताना इस की घोषणा है :—

"विप्राद्द्विषड्गुण युतादरविन्दनाभ:"
पादारविन्द विमुखाच्छ्व पचं वरिष्ठं।

इसने "वासनात्वासु देवस्य वासितं भुवनयं" के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

उस एक अव्यय आत्मा को सर्व भूतों से व्याप्त जान (आत्मत्वात्सर्वभूतानां) सब भूतों पर दया व सौहार्द्र करना ही उसकी भक्ति का एक मात्र उपाय बतलाया है। :— "तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्" और सब जीवों के हर्ष शोक में सुखी दुखी होना ही धर्म का प्रधान लक्षण माना है :—

"एतावान व्ययो धर्मः पुण्य श्लोकै रुपासितः।
यो भूत शोक हर्षाभ्यां आमता शोचति हृष्यति॥"

भगवान से स्पष्ट कहा है :—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चा विडम्बनम्॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वम्।
हित्वार्चां भ ते मौढ्यातभस्मन्येव जुहाति स॥ ×
(भा १०)

इस भक्ति के लिए जाति पाँति या क्रिया कलाप सब व्यर्थ हैं :—

उसके आराध्य देव प्रभविष्णु हैं जिनके स्मरण मात्र से पतित से पतित भी पुनीत हो जाते हैं :—

आभीर कङ्का यवना खसादयामः।
'येऽन्ये च पापा तदुपाश्रयाः श्रया-शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।
इसी जगत्पावनी भक्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है :—

"सर्वे पुंसां परो धर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे।
अहैतुक्य प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥"

(अ०—परमात्मा में भक्ति करना मनुष्यों का परमधर्म है। यह भक्ति निष्काम और निर्बाध हो जिससे आत्मा प्रसन्न हो जावे।)

किन्तु, इस वासुदेव की भक्ति का क्रियात्मक रूप "वासुदेव की वासना से सब त्रिलोक वासित है" (वासनात्वा सुदेवस्य वासितं भुवनत्रयं) ऐसा अनुभव करके सबमें समान दृष्टि रखकर लोक सेवा करना ही है। संसार के कल्याण तथा उसकी उन्नति के लिए (शिवाय लोकस्य भवाय भूतये) निष्काम सेवा ही इसका अंतिम फल है।

उसके आदर्श है राजा रंतिदेव जिन्होंने ६४ दिन भूखे रहने पर भी चांडाल और उसके कुत्ते को नमस्कार किया (नमश्चक्रेश्वभ्यःश्वपतये विभुः) और अपना भोजन उन्हें प्रदान कर अंत में भगवान् से यही दान मांगा :

"कानुस्यादुपायात्र, येनाहं दुःखितात्मनां।
अतः प्रविश्यभूतानां, भवेऽहं दुःखभाक् सदा ॥

(अ० इस संसार के सारे दुःखी प्राणियों की अंतरात्मा में प्रवेश कर मैं उनके दुःख का भागी बन सकूं ऐसा कौन सा उपाय है।)

पंचम प्रकरण

आचार्यों का समन्वय

ऐतिहासिक परिस्थिति

सातवीं सदी में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने पल्हवों को दबाना शुरू किया जिसका फल यह हुआ कि १०वीं सदी तक पल्हवों का प्रायः अन्त हो गया। ११वीं सदी में पश्चिमी चालुक्य राजाओं का प्रभाव सारे दक्षिण पर फैल गया। पूर्वी किनारे पर गंग राजाओं का पूर्ण प्रभाव था। पश्चिम में चोल राजाओं का अधिकार बढ़ रहा था। पांड्य लोग अपनी प्राचीन राजधानी में अधिकार जमाये बैठे थे। १२वीं सदी के अन्त में चोल राजाओं ने सारे दक्षिण पर अपना अधिकार

जमा लिया था। पूर्व में गणपतियों ने अपना राज्य फैलाया उत्तर में देवगिरी के यादव और दक्षिण में होशल अपने प्रभुत्त्व के लिये युद्ध कर रहे थे। १३वीं सदी में भी यही चलता रहा। चालुक्यों के पतन के बाद होसलो का प्रभुत्व जम गया था। यादवों ने इन पर आक्रमण किया जिसके कारण होसलों ने अपने दक्षिणवर्त्ती चोलो को दबाना शुरू किया। यादव राजा रामचन्द्र ने होसलों की प्राचीन राजधानी पर अधिकार कर लिया और पुराने चालुक्यों द्वारा अधिकृत भूमि तक अपना राज्य विस्तार कर दिया।

किंतु इसी समय उत्तर में एक नये शत्रु का उदय हुआ। सन् १२९४ में दिल्ली के बादशाह जलालुद्दीन क भानजे अलाउद्दीन खिलजी ने थोड़े से घुड़सवारों के साथ देवगिरी पर चढ़ाई कर दी और रामचंद्र को वार्षिक कर तथा राज्य का कुछ भाग देने पर बाध्य किया। सन् १३०७ में मलिक काफूर ने कर न देने का दोष लगा कर फिर से चढ़ाई कर दी और ओर को बंदी कर ले गया। इसके बाद उसने वारंगल पर विजय प्राप्त की। तीसरी बार उसने मैसूर तक धावा किया और द्वार समुद्र से होसलों और मदुरा स पाण्डयों को भगाया। सन् १३२७ में मुहम्मद तुगलक ने होसल शक्ति का बिलकुल नाश कर दिया और सारे दक्षिण के मंदिरों को नष्ट भ्रष्ट और राजधानियों को लूट पाट कर सारे देश को उजाड़ कर दिया। इसी समय से मुसलमानों का प्रभुत्व स्थापित होगया और दक्षिण के राज्य नामशेष रह गए।

इस आक्रमण के फल-स्वरूप सारे दक्षिण में आतंक और विनाश छा गया। किन्तु साथ ही दक्षिण के राज्यों को सबके समान वैरी के विरुद्ध एक होने के लिये भी प्रेरित किया। हिन्दू-धर्म और मंदिरों की रक्षा के लिये वे हरिहर और बुक्का

नामक दो भाइयों के नेतृत्व में एकत्रित हुए। विधर्मियों के विरुद्ध जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ वह राष्ट्रीय और धार्मिक भावनाओं से प्रेरित था। हिन्दू धर्म के अदर फैले हुए सांप्रदायिक मतभेदों और भेद भावों को भूल कर सब लोग एक धर्म की रक्षा में तत्पर हुए। दक्षिणी राज्यों की सहायता से विजयनगर के महान् साम्राज्य की स्थापना हुई। विजयनगर हिन्दुओं द्वारा स्थापित सब से विशाल और सब से धनवान नगर माना जाता है। (१) यह साम्राज्य दो शताब्दियों तक उत्तर के मुसलमानों के आक्रमण से दक्षिण की रक्षा करने में समर्थ हुआ।

आत्म रक्षा से छुट्टी पाकर विजयनगर के राजाओं ने देश के आंतरिक्त राजनैतिक और सामाजिक सघटन पर ध्यान दिया। देश रक्षा के लिये प्रबल सेना संघटित करने के साथ ही साथ आन्तरिक शासन स्वयं प्रजा के हाथ में छोड़ा गया। कृष्णदेव राय ने दक्षिण के मंदिरों के पुनः निर्माण के लिये दस हजार स्वर्ण मुद्राओं का दान किया तथा स्वयं अपनी राजधानी में मुसलमानों द्वारा नष्ट किये गए सभी देव मन्दिरों को बनवाने का आयोजन शुरू किया। (२) इन राजाओं ने (३) कन्नड़ की अपेक्षा तेलुगु और संस्कृत भाषा को अधिक आश्रय दिया।

इस साम्राज्य स्थापना में धार्मिक संतों और आचार्यों का भी बड़ा हाथ था। माधव और सायणाचार्य दोनों भाई बड़े भारी राजनीतिज्ञ और पंडित थे। मध्वाचार्य बुक्का के प्रधान

(१) Imperial Gazetteer p. 343

(२) Aiyangar: Some Contributions p. 306

(३) V. Smith: History of India p.316

मंत्री थे। सायण भी उदयगिरि के अधिकारी कंपन के सलाहकार थे जिनकी मृत्यु के बाद वे उसके पुत्र संगम के अभिभावक भी रहे। वैयाकरण और टीकाकार के रूप में सायणाचार्य ने वैदिक साहित्य की विशेष उन्नति की। इन दोनों भाइयों ने वैदिक साहित्य की उन्नति और रक्षा में बहुत कार्य किया। श्री आयंगर का कथन है कि दक्षिण का वर्तमान हिन्दू धर्म उसी रूप में है जैसा कि विजयनगर साम्राज्य में उसे मिला था। रामानुज के लेख में एक घटना का उल्लेख है कि बुक्का के पास इस बात की शिकायत की गई कि वैष्णव लोग जैनों को कष्ट दे रहे हैं। इस पर उसने वैष्णव आचार्य को इस बात का आदेश दिया कि वैष्णवों के द्वारा जैन तंग न किये जावें। इस घटना से उस समय की धार्मिक उदारता का पता लगता है।

कांपराय-चरितम् नामक संस्कृत काव्य में दक्षिण की देवी कंपन को स्वप्न में दर्शन देती है और विधर्मियों द्वारा तंग किये जाने का उल्लेख कर उनका विरोध करने को उत्तेजना देती है।(४) इसी कुमार कंपन ने मदुरा के सुल्तानों से तामिल देश को मुक्त किया था। हिन्दू राज की स्थापना के बाद प्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र श्रीरंगम् का पुनर्निर्माण किया गया और रंगनाथ की स्थापना की गई। इसमें विजयनगर साम्राज्य के धार्मिक उद्देश्य का पता लगता है।

कुमारिल भट्ट

हिन्दु धर्म का पुनरुत्थान करने वाले आचार्यों में शंकराचार्य सबसे प्रधान हैं। उनके भी पूर्व कुमारिल भट्ट और मंडन मिश्र मे उनका मार्ग प्रशस्त कर दिया था। जैन ग्रन्थों में उन्हें महान्वादी तथा श्रुतियों के अभिमानी के

(४) Aiyangar. Ibid p. 306

साथ-साथ जैनों का अन्त करने वाला भी कहा गया है। (५) उस समय वैदिक और जैन मतावलंबियों में खूब वाद विवाद चला करते थे। जिनके फलस्वरूप दोनों में द्वेषभाव बहुत फैल गया था। इन्होंने वेद-विरुद्ध मतों का खंडन कर वैदिक कर्मकांड का प्रतिपादन किया तथा उसके लिये मीमांसा सूत्रों पर भाष्य भी लिखा। इस प्रकार एक बार फिर देश में वैदिक कर्मकांड का जोरों से प्रचार हो गया।

शंकराचार्य का समन्वय

वैदिक धर्म को ज्ञान और भक्ति के आधार पर स्थापित करने वाले भगवान शंकराचार्य ही थे। उन्होंने कर्मकांड का खंडन तो किया किन्तु वैदिक प्रमाणों के ही आधार पर। उनकी 'दिग्विजय' कोई पार्थिव विजय नहीं किन्तु उनकी अकाट्य तर्कबुद्धि, प्रचंड ज्ञान शीलता, और उग्र तपस्या की विजय थी। लोग उन्हें 'बौद्ध, जैन आदि (पाखंड) मतों का उच्छेद-कर्ता' मानते हैं किन्तु यथार्थ में वे शास्त्रों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रचलित मतों के समन्वय कर्त्ता थे। उन्होंने उस समय की प्रचलित सौर, शैव, शाक्त, गाणपत्य, तथा वैष्णव, उपासना पद्धतियों का विरोध मिटाया। जैन या बौद्ध मतों की अपेक्षा न्याय मीमांसा, तथा सांख्य आदि मतों का खंडन कर वेदान्त के अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापन करना ही उनका मुख्य कार्य था। वेदान्त के गहन तत्व जो कि उनके गुरु गौड़पाद, और गोविन्द आचार्य के उपदेशों द्वारा केवल सन्यासियों तक ही सीमित थे उन्हें गृहस्थाश्रमियों के लिये

---

(५) महानवादी महानघोरः श्रुति नामचाभिमानवान ज़िनानामन्तकः साक्षात्...........

भी सुलभ बना देना उनका उद्देश्य था। सन्यास प्रधान बौद्ध, जैन और शैव मतों के प्रचार से वर्णाश्रम धर्म में जो शिथिलता आ गई थी, उसे उन्होंने दूर किया। स्वयं सन्यासी होते हुए भी उन्होंने गृहस्थ धर्म की महानता स्वीकार की और स्वयं अद्वैतवादी होते हुए भी स्वयं भक्ति प्रधान सूत्रों की रचना की। उनके मत में ज्ञान परिपाक ही भक्ति है। भक्ति के द्वारा अपने स्वरूप की प्राप्ति तथा अपने उपास्य से सरूपता प्राप्त करना उनकी भक्ति का उद्देश्य था। सर्वत्र अद्वैत भाव उदित होने पर भी समुद्र और तरंग के समान तरंग ही समुद्र का अंग है न कि समुद्र तरंग का :—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्
सामुद्रो हि तरंगःक्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

वे ज्ञान प्राप्त होने तक ही कर्म की आवश्यकता अनुभव करते थे। यद्यपि वे ज्ञान और निष्ठा के समुच्चय के विरोधी थे(६) तथापि ज्ञान निष्ठा की प्राप्ति में साधन होने के कारण(७) तथा लोक संग्रह(८) के लिये कर्म की अवश्यकता को मानते थे। इतना ही नहीं किन्तु ज्ञान रहित सन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ समझते थे(९)। कर्म कांड में भी वे हिंसामय यज्ञों के

---

(६) तस्मात् कयाऽपि युक्त्या न समुच्चयो ज्ञान कर्मणो: (गीता भाष्य १ ३)

(७) कर्मनिष्ठायां ज्ञान निष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन, पुरुषार्थहेतुत्वेन (गीता भाष्य ३-१)

(८) तस्य अपि आत्मनः कर्त्तव्याभावे अपि परानुग्रह एव कर्त्तव्यः (गीता भाष्य ३-२५) न मम आत्मविदः कर्त्तव्यं अस्ति अन्यस्य वा लोक संग्रहंमुक्त्वा (गीता भाष्य ३-२२)

(९) कर्म सन्यासात् केवलात् कर्मयोगो विशिष्यते (गीता भाष्य ५-२)

बदले अहिंसक यज्ञों को श्रेष्ठ मानते थे तथा फल आशा से मुक्त यज्ञों की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग को श्रेष्ठ समझते थे। उनके मायावाद के संबंध में कुछ भ्रम फैल हुआ है। यद्यपि पारमार्थिक रूप से वे जगत् को असत्य मानते थे किन्तु जहाँ तक लोक व्यवहार का संबंध है उसे सत्य समझ कर ही चलना अनिवार्य मानते थे। सांख्य मत वालों से उनका मुख्य मतभेद यही था कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) सचेतन जगत् का कारण नहीं हो सकता।

उन्होंने श्रुतियों के साथ स्मृतियों के वाक्यों का भी समन्वय किया। मीमांसकों के शब्द प्रामाण्य (शास्त्रयोनित्वात्) का खंडन तो उन्होंने नहीं किया किन्तु यह 'शब्द' और यह 'शास्त्र' कौनसा है इसका स्पष्टीकरण उन्होंने कर दिया और यह बतला दिया कि वे ही शास्त्र वाक्य प्रामाणिक हैं जो कि ब्रह्मज्ञान के समर्थक हैं। बाकी के मंत्र या तो अर्थवाद के रूप में हैं अथवा वाक्य शेष (पाद पूर्ति) के लिये आये हैं। इसके अलावा केवल तर्कशक्ति अप्रतिष्ठित (अनिश्चित) होने के कारण आत्मानुभव ही अन्तिम प्रमाण हो सकता है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री में जिन मुख्य सिद्धान्तों का सूत्रपात किया था उन्हीं का विस्तार अपने भाष्य में करके शंकराचार्य ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इतना ही नहीं किन्तु उपनिषदों और गीता का भी भाष्य किया सारे भारतवर्ष की यात्रा के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर अपनी आचार्य पदवी को सार्थक किया तथा अपने समय की आवश्यकता को पूर्ति की।

कर्मकांड का विरोध तथा सन्यास का प्रतिपादन करने के कारण लोगों ने उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' तक की उपाधि दे डाली थी। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि बौद्ध धर्म से वे कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य हुए थे। उसके सन्यास और अहिंसा के

महान् सिद्धान्तों की उपेक्षा करना उस समय किसी भी सुधारक के लिये असंभव था। शंकराचार्य की विशेषता इसी में है कि उन्होंने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैदिक धर्म के आधार पर किया और यह सिद्ध कर लोगों की श्रद्धा उसकी ओर बढ़ाई कि वैदिक धर्म में भी तत्वज्ञान और सन्यास को पूरा स्थान है जो कि उस समय तक केवल बौद्ध धर्म के ही विशेष अंग समझे जाते थे। उन्होंने उस समय प्रचलित संप्रदायों में आपसी सद्भाव तथा सहिष्णुता स्थापित की।

बौद्धों के भिक्षु संघ के आदर्श पर संन्यासियों का सघटन का अपनी समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। "मुण्डक कारिका" के प्रणेता गौडपादाचार्य इनकी गुरु परम्परा में थे।

शंकराचार्य ने अपने प्रकांड पांडित्य तथा अकाट्य तर्क से भिन्न-भिन्न मतों का खण्डन कर स्वधर्म की श्रेष्ठता स्थापित की किन्तु उनका प्रभाव त्रिवर्ण तक ही सीमित रहा। देव वाणी का माध्यम सिद्धान्तों की दुरूहता तथा "अनधिकार" के कारण शूद्र इससे दूर ही रहे या रक्खे गये। ब्रह्म सूत्र में अद्वैतवाद प्रतिपादन करते हुए भी इन्होंने "अप शूद्राधिकरण" में शूद्र के लिये वेद के अध्ययन श्रवण तथा अनुष्ठान तीनों का प्रतिषेध किया। इतना ही नहीं बल्कि वेद सुनने पर धातु से कान मूंदने, वेद पाठ करने पर जिह्वा तथा धारण करने पर शरीर छेद तक का विधान किया। (१०)

संक्षेप में शंकराचार्य का मत इस प्रकार है :—

(१) एक परब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ सत्य नहीं है।

---

(१०) वेदश्रवणप्रतिषेधः वेदाध्ययन प्रतिषेधः तदर्थ ज्ञानानुष्ठान प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। भवति च वेदोच्चारणे जिह्वा छेदः धारणे शरीर भेदः। (ब्रह्मसूत्र भाष्य १-३-३८)

'एक मेवा-द्विवीय ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किंचन' 'नेति-नेति इत्यादि श्रुति वचनों से एक ब्रह्म की ही सिद्धि होती है। 'ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है, जीव और ब्रह्म में अन्तर नहीं है।

(२) 'जगत् मिथ्या' का अर्थ जगत् केवल मिथ्या है, ऐसा नहीं है। व्यवहार में जगत् सत्य ही है। जग के व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं। स्वप्न में देखे हुए पदार्थ स्वप्न रहने तक सत्य ही हैं, जागने पर वे मिथ्या होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म पर विश्वास होने तक जगत् सत्य है, उसके उपरान्त वह मिथ्या है।

(३) ब्रह्म अशेष, निरंजन व निर्गुण है, निराकार है, सदा ही उदीयमान है; जाने हुए ज्ञान की सीमा से रहित अर्थात् त्रिपुटी रहित एक ही है। इसके अतिरिक्त वह सर्व कल्पना आभास मात्र है। जगत् स्वप्न के समान है, केवल कल्पना मात्र है, वास्तव में सत्य नहीं है।

(४) जीव अनन्त नहीं है। वह परमात्मा से भी भिन्न नहीं है। जीव स्वरूप से ब्रह्म ही है। तो भी माया की कल्पना से देह व इन्द्रियों की बाधाओं के वशीभूत होने पर उसके लिये भिन्न व्यवहार है। ब्रह्म को छोड़ कर कोई सत्पदार्थ ही नहीं है।

(५) जगत् का निमित्त व उपादान कारण (विकारभूत) ब्रह्म ही है। उपादान कारण रज्जु सर्प न्याय से सिद्ध होता है। वह परिणामी नहीं। (जैसे दूध से दही होता है उस प्रकार) ब्रह्म से जगत् नहीं होता। यह उसकी लीला मात्र है।

(६) तत्वमसि आदि महावाक्यों के दर्शन (आत्मसाक्षात्कार) होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और फिर शरीर रहते हुए भी मोक्ष हो जाता है। यही जीवनमुक्ति है। अज्ञान की

निवृत्ति ही मोक्ष है। चार प्रकार की मुक्तियों में केवल सायुज्य मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है।

(७) मुक्ति के उपरान्त जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है। मुक्तावस्था में सुख-दुख का नाम भी नहीं है। केवल ऐसा विश्वास होते तक जीव को शास्त्रों में बताए हुए कर्म करना चाहिये।

(८) जगत् में जो विभिन्नता भास होती है यह अविद्या का काम है। रज्जु-सर्प शुक्तिका-रजत के समान ब्रह्म पर जगत् का अभ्यास हो जाता है; इस लिये वह सत्य भास होता है। ब्रह्म के पास कार्य कारण भाव नहीं है।

(९) माया अर्थात् अविद्या सत् या असत् कथन के परे होने से अनिर्वचनीय है। इसे 'अनिर्वचनीय प्रसिद्धि' कहते हैं।

(१०) श्रुति शास्त्र सर्वथा प्रमाण है। इंद्रिया ब्रह्म प्राप्ति के लिये कोई प्रमाण नहीं हैं क्योंकि ब्रह्म अतींद्रिय है। जीव और ब्रह्म की एकता होने पर श्रुति स्मृति आदि की आवश्यकता नहीं रहती।

वैष्णव आचार्यों का उदय

वैष्णव आलवारों के बाद उन्हीं की नीति से प्रभावित वैष्णवाचार्यों का उदय हुआ। इसके पूर्व दक्षिण में भागवत धर्म का प्रभाव पड़ चुका था। स्मार्त मतावलम्बी शिव और विष्णु की एकता का प्रतिपादन करते ही थे। इसी उद्देश्य से स्कन्द उपनिषद् की रचना भी हो चुकी थी। कुछ लोगों की संमति में शंकर के वेदान्त के प्रभाव पड़ने के बाद ही ऐसा हुआ। इसके अतिरिक्त पंचरात्र धर्म का विकास जो कि छठीं और दसवीं शताब्दि के बीच में हुआ, वैष्णव धर्म में एक विशेष घटना थी। इसकी संहिताएं सांप्रदायिक क्रियाओं और सिद्धान्तों से भरी हुई हैं, और एक ओर महाभारत के नारायणीय धर्म और दूसरी

और शाक्त मत से प्रभावित हैं। दक्षिण के मन्दिरों में इन्हीं संहिताओं के अनुसार पूजा पद्धति प्रचलित है। रामानुज ने भी इन्हीं के प्रचार पर जोर दिया।

नाथ मुनि

रामानुज के पहले भी कई आचार्य हो चुके थे। इनमें रंगनाथ मुनि या नाथमुनि (स० ८२४ से ९२४ ई०) प्रधान हुए। इन्होंने आलवारों के उपदेशों के प्रचार के लिये एक संघटन स्थापित किया। उन्हें चार भागों में विभाजित कर छन्दों के अनुसार गीतों का क्रम बाँधा और "नलियर प्रबंधम्" नामक ग्रन्थ में इनके चार हजार गीतों का संग्रह किया। श्रीरंगम् के मंदिरों में इनके गायन का प्रबन्ध भी कराया जिससे दूसरे मंदिरों में भी इनका प्रचार हुआ और देशी भाषा को भी देववाणी की बराबरी प्राप्त हुई। लोकभाषा के प्रबंध भी वेदों की समता पर स्थापित हुए। इससे तामिल में धार्मिक साहित्य की बाढ़ सी आ गई जिसमें 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्यों और टीकाओं का ताँता लग गया।

प्रबंध तथा वेद शास्त्रों का समन्वय स्थापित करने, उनके दुरूह स्थलों को सर्वसाधारण को समझाने तथा प्रतिपक्षियों से वैष्णव धर्म की रक्षा करने के उद्देश्य से नाथमुनि ने 'आचार्य' की गद्दी स्थापित की जिसकी परंपरा स्थायी हो गई। श्रीरंगम् की आचार्य गद्दी पर सबसे पहिले नाथमुनि ही आसीन हुए। उन्होंने 'योग रहस्य' तथा 'न्याय तत्व' ग्रन्थों की रचना की जो कि उनकी विद्वत्ता के प्रमाण हैं।

यामुनाचार्य और रामानुज

नाथमुनि के बाद क्रमशः पुंडरीकाक्ष, राम मिश्र तथा यामुनाचार्य (सन् ९२०-१०४० ई०) हुए। अपने ग्रन्थ 'सिद्धि

त्रय' में उन्होंने शंकर के अविद्या तथा अद्वैतवाद का खण्डन कर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की जिसका आगे चलकर रामानुज ने (सन् १०३७-११३७ ई०) प्रचार किया। इन्होंने 'स्तोत्र-रत्न' में शरणागति, आगम प्रामाण्य में पञ्चरात्र की प्राचीनता, श्रीचतुश्श्लोकी में लक्ष्मी तथा विष्णु का संबंध सिद्ध किया। रामानुज की प्रथम शिक्षा कांची में शांकर मतावलंबी यादव प्रकाश ने प्रारम्भ की। किन्तु रामानुज आलवारों की भक्ति से प्रभावित हो चुके थे। उन्होंने यादव प्रकाश को छोड़कर यामुनाचार्य की शरण ली जिनके बाद वे गद्दी पर बैठे। रामानुज का प्रभाव इतना बढ़ा कि अद्वैतवादी गुरु यादव प्रकाश ने भी वैष्णव मत स्वीकार किया। रामानुज केवल श्रीरंग ही प्रमुख नहीं बने बल्कि सारे वैष्णव सम्प्रदाय के मुखिया माने गये। उन्होंने 'वेदार्थ संग्रह', 'वेदान्तसार' तथा 'वेदान्त-दीप' के अतिरिक्त गीता और वेदान्त सूत्रों पर भी भाष्य लिखे जिनमें उन्होंने सिद्ध किया कि उपनिषद्, गीता, और सूत्रों से शांकर का अद्वैतवाद प्रतिपादित नहीं होता। रामानुज के पहिले टंक द्रमिल और बोधायन भी यही सिद्ध कर चुके थे। रामानुज ने ब्राह्मणेतरों के प्रति भी पहिले से अधिक उदारता का दृष्टिकोण रक्खा। उनको भी मन्दिर, पूजा तथा वैष्णव चिन्ह धारण करने का अधिकार दिया गया जिससे वैष्णव धर्म का जनता में प्रचार बढ़ा।

विशिष्टाद्वैत

रामानुज का विशिष्टाद्वैत ईश्वर के अद्वैत तथा एकत्व को स्वीकार करता हुआ संसार में द्वैत और विभिन्नता को भी स्थान देता है। ईश्वर केवल निगुण नहीं वह सगुण भी है। संसार केवल माया और असत्य नहीं वरन् एक सत्य घटना है।

सृष्टि अव्यक्त ईश्वर का व्यक्त विकास है। प्रलय के बाद जीव और विश्व दोनों ही ईश्वर में लीन हो जाते हैं। द्वैतवाद के समान इस मत में जीवों का अलग अस्तित्व नहीं है।

संक्षेप में रामानुज का मत इस प्रकार है :

(१) चित् व अचित् दोनों एक ही ईश्वर के रूप हैं। ईश्वर चिदचिद्विशिष्ट है। इस चिदचित् (कारण) से स्थूल चित् अर्थात् जीव स्थूल अचित् अर्थात् जगत् (कार्य) उत्पन्न होता है। ईश्वर एक है—किन्तु वह चित् (जीव) व अचित् (दृश्य व जड़जगत्) इस विशेषता से युक्त है ऐसा रामानुज के अनुयायी मानते हैं। इसीलिये इस मत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। 'ईश्वरः चिदचिच्चेति पदार्थत्रतयं हरि :'—एक नियंता, एक भोक्ता, व एक भोग्य ऐसे तीन पदार्थ मिलकर हरि एक है।

(२) परमात्मा हरि भक्तों के उद्धार करने के लिये पाँच रूप धारण करता है :—अर्चा, विभव, व्यूह सूक्ष्म व अन्तर्यामी। अर्चा अर्थात् मृत्तिका शिला युक्त प्रतिमा ; विभव अथवा राम कृष्णादि अवतार ; व्यूह अर्थात् पंच रात्र मत में बताये हुए चतुर्व्यूह :—संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ; सूक्ष्म अर्थात् ऐश्वर्य आदि सद्गुण सम्पन्न वासुदेव, तथा अन्तर्यामी अर्थात् नियामक।

(३) ईश्वर ज्ञान स्वरूप होने के कारण सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त है। वह अनन्त कल्याण युक्त गुणों का आश्रय है। सर्वात्मक अर्थात् सबसे वह अभिन्न नहीं किन्तु सबका अन्तर्यामी प्रेरक है। वह ज्ञान स्वरूप है, वह सब गुणों का आश्रय है इसलिये उसके पास ज्ञातृत्व भी है।

(४) तत्वमसि आदि महावाक्य रूप उपासना से परमात्मा प्रसन्न होता है। उपासक भी अखंड स्मरण रूप है। वह ध्यान

ज्ञान और भक्ति का वाचक है। परमात्मा प्रसन्न होकर मुक्ति देता है। मुक्ति में उसका और जीव का एक रूप हो जाता है।

(५) जब तक शरीर है सुख दुःख का अनुभव रहेगा इसलिये जीव दशा में सायुज्य मुक्ति सम्भव नहीं है। कर्मक्षय होने के बाद लौकिक शरीर चला जाता है व दिव्य देह प्राप्त होती है व परमात्मा के साथ सालोक्य तथा सामीप्य प्राप्त होता है।

(६) मुक्ति तक ही जीव ब्रह्म का भेद है। मुक्तावस्था में दुःख के लेश से भी मुक्त सुखाधिक्य रहता है।

(७) ईश्वर सत्य है, जगत् सत्य है व जीव अनन्त व भिन्न-भिन्न होते हैं।

(८) जीव और जगत् सविकार हैं। जीव अणु परिमाणु विशेष्ट है, किन्तु वह ईश्वर के समान ही नित्य है।

(९) प्रलय में जीव व जगत् ब्रह्म में लीन रहते हैं किन्तु उत्पत्ति क्रम में ईश्वर की इच्छा से जीव व जगत् के कार्य प्रारंभ होते हैं। ईश्वर के सान्निध्य से प्रधान जगत् के आकार में फल परिणमित होती है। जीव और जगत् की उत्पत्ति परिणामवाद के अनुसार (जैसे दूध से दही) होती है। "जगत् सत्य है," ऐसा मानने के कारण, इस मत को 'सत्ख्यातिवाद' कहते हैं।

(१०) श्रुतिशास्त्र के प्रमाण या तर्क को अतींद्रिय विषयों में कोई स्थान नहीं है। श्रुति शास्त्रों का अधिकार देहपात तक अबाधित गति से चलता है।

(११) सत्य, अहिंसा आदि धर्म सब जीवों के एकसे हैं। केवल ब्रह्मविद्या का अधिकार शूद्रों को नहीं है। तथापि भागवत

धर्म की निष्ठा पूर्वक भगवान् की आराधना से सभी को मुक्ति का लाभ सम्भव है। भक्ति अर्थात् भजन व प्रपत्ति अर्थात् अनन्य शरणागति ये दो मोक्ष के साधन हैं।

इन सिद्धान्तों से रामानुज की व्यावहारिक बुद्धि का पता लगता है जिससे प्रेरित हो कर उन्होंने धर्म को सामयिक रूप दिया। उन्होंने संसार से परे रहने वाले नारायण को लोक हित की दृष्टि से लक्ष्मी से संयुक्त करके गृहस्थोपयोगी लक्ष्मी नारायण का सुन्दर रूप दिया। संसारी व्यवहार के लिये उनकी "लीला" का विस्तार किया, और पृथ्वी से संबंध और अनुराग प्रगट करने के लिये उन्हें "भूपति" का रूप दिया। विष्णु को लक्ष्मी भू और लीला से संयुक्त करने का यही अर्थ हो सकता है। सांसारिक उन्नति के लिये ऐश्वर्य और वीर्य (प्रद्युम्न) शक्ति और तेज (अनिरुद्ध) ज्ञान और बल (संकर्षण) तथा छः गुणों से युक्त वासुदेव को आराध्य बनाने की आवश्यकता का उन्होंने अनुभव किया और लोक हित से प्रेरित हो कर अवतार धारण करने वाले तथा क्षीर सागर को छोड़ कर मनुष्यों के हृदय में निवास करने वाले अन्तर्यामी को आदर्श माना।

श्रीवैष्णव संप्रदाय

रामानुज ने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिये उत्तर भारत की यात्रा की। चोल नृपति कुलोत्तुंग ने वैष्णवों पर अत्याचार भी किये जिससे रामानुज को श्रीरंगम् से मैसूर जाना पड़ा। जहां के जैन राजा ने उनके प्रभाव से वैष्णव धर्म स्वीकार किया। रामानुज ने श्री वैष्णव संप्रदाय की स्थापना की जोकि छुआ छूत और जाति भेद के मामले में बहुत कट्टर था। उसमें अधिकतर ब्राह्मण ही दीक्षित किये जाते थे। प्रपत्ति और गुरु

पूजा इस मार्ग के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धांन्त हैं। आचार्य ही पर शिष्य के मोक्ष का भार है। संपूर्ण रूप से ईश्वर शरणागति ही प्रपत्ति का अर्थ है जैसा का गीता में भी वर्णित है। (१) किन्तु इसके अर्थ में मतभेद होने के कारण श्री संप्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया। बद्गलाई के अनुयायी प्रपत्ति के मोक्ष के उपायों में से एक मानते हैं, स्वकर्म पर जोर देते हैं और संस्कृत भाषा ही को धर्म की भाषा मानते हैं।

किंतु "तेंगलाई" मत के अनुयायी प्रपत्ति ही को मोक्ष का एक मात्र उपाय मानते हैं। उन्होंने आलवारों के अनुसार लोक भाषा को अपना वाहन बनाया। ये लोग आचार्य को अपना एक मात्र आधार मानते हैं। दूसरा बड़ा भारी भेद यह है कि वद्गलाई केवल ब्राह्मण ही को पूरे मंत्र का अधिकारी मानते हैं जबकि तेंगलाई नीच से नीच शूद्र को भी उसका अधिकार देते हैं। प्रथम मार्ग जाति भेद तथा संस्कृत की प्रधानता मानने में रामानुज की शिक्षा के अधिक समीप है। प्रपत्ति के भेद के अनुसार इन मतों को और "मार्जार और मर्कट" मार्ग भी कहा जाता है। (२)

रामानुज के बाद कुरु केश और उनके बाद विष्णु चित्त (सन् ११६२ से १२०० ईस्वी) हुए जिन्होंने "सारार्थ चतुष्टय" ग्रन्थ तथा बिष्णु पुराण की टीका लिखी। इनके बाद बरदाचार्य (सन् १२०० से १२७५ ई०) गद्दी पर बैठे। इनके समय में भी संप्रदाय के दो भेद हुए उन्होंने "तत्व सार" तथा "श्रुत

(१) तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत—गीता

(२) बिल्ली का बच्चा माँ से चिपटे रहने का कुछ भी उद्योग नहीं करता और बन्दर का बच्चा स्वयं ही माँ से चिपटा रहता है। यह शरणागति और स्वप्रयत्न का प्रतीक है।

प्रकाशिका" नामक टीका लिखी है जो कि श्रीभाष्य के समझने के लिये महत्त्वपूर्ण है। इनके बाद ऐत्रेय रामानुज तथा उनके पीछे वेदांत देशिक (१२६०-१३६६) हुए जो कि रामानुज के बाद सब से महत्त्व पूर्ण आचार्य माने जाते हैं। कवि, तत्व-वेत्ता और लेखक के रूप में वे वैष्णवाचार्यों में अद्वितीय हैं। उन्होंने संस्कृत और तामिल में विद्वानों से लेकर जन साधारण सब से लिये सैकड़ों ग्रंथ लिखे जो कि नौ भिन्न विभागों में विभाजित किये जाते हैं।

वेदान्त देशिक की मृत्यु के बाद एक और बरदाचार्य ही का नाम मुख्य मिलता है जिनके बाद सम्प्रदाय में बहुत विभेद बढ़ गये। बीच में वेंकटनाथ ही एक ऐसे आचार्य मिलते हैं जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

उक्त संप्रदायों के अतिरिक्त हमें "मुनित्रय" और प्रबंधिक संप्रदायों का भी पता लगता है। इनके भी अनेक आचार्य हुए जिनके द्वारा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय तथा उनके साहित्य का दक्षिण में ही नहीं किन्तु सारे भारतवर्ष में प्रचार होता रहा।

मध्वाचार्य

(सन ११९७-१२७५ ई०)

दक्षिण कान्डा प्रान्त के उडुपी के पास पाजक नामक गाँव में इनका जन्म हुआ। ये कर्नाटकी आश्वलायन ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मध्यगेह व माता नाम वेदवेदी था। उन्होंने अनन्तेश्वर की उपासना से होने वाले इस पुत्र का नाम वासुदेव रखा। गुरुगृह में वेदाध्यन करने के पश्चात् अपने गुरु अच्युत प्रेक्ष्याचार्य की आज्ञा से युवावस्था में इन्होंने संन्यास लिया। गुरू ने इनका नाम आनन्दतीर्थ व नवीन आश्रम का नाम 'पूर्णप्रज्ञ' रखा, तो भी ये मध्वाचार्य नाम

से ही प्रसिद्ध हुए। इन्होंने हिन्दुस्थान भर की यात्रा की। और बद्री नारायण से लाकर उडुपी में श्रीकृष्ण मूर्ति स्थापित की इन्होंने ब्रह्म सूत्र, गीता और कुछ उपनिषदों पर भी भाष्य लिखे हैं। इन्होंने वेदान्त शास्त्र का अध्ययन अपनी स्वतंत्र बुद्धि से किया और अपने मत के अनुसार टीकाएँ लिखीं। इनका मत रामानुजाचार्य जी के मत से अधिक मिलता-जुलता है। वेद अपौरुषेय स्वतः प्रमाण हैं। द्वैत मत ही श्रुति के अनुसार सत्य है और भक्ति से ही ईश्वर प्रसन्न होता है। इनके मत में स्वतंत्र व अस्वतंत्र ऐसे दोनों तत्व हैं:—

स्वतंत्रमस्वतंत्रं च द्विविधं तत्वमिष्यते।
स्वतंत्रो भगवान्विष्णु निर्दोषो ऽशेषसद्‌गुणः॥

समस्त सद्‌गुणों से युक्त व निर्दोष भगवान विष्णु ही हैं, वे ही स्वतंत्र हैं, शेष सब परतंत्र हैं। विष्णु ही ब्रह्म हैं। इनके मत में भेदवाद बहुत है। जीव-ईश्वर भेद, जीव-जीव भेद, जड़-जीव भेद, जड़-जड़ भेद, ऐसे ये पाँच भेद अनादि हैं। सारा प्रपंच (संसार) इन पाँच भेदों से युक्त है। संसार सत्य है, भ्रान्ति कृत रचना नहीं है। मायावाद मिथ्या है, जीव और ईश्वर में ऐक्य है, यह कहना ही महापाप है। ईश्वर सेव्य है और जीव सेवक है। 'मै ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने वाला जीव नाश पाता है। सेवक को स्वामी का स्थान कैसे मिल सकता है? मैं राजा हूँ ऐसा कहने वाले सेवक का राजा नाश कर देगा, किन्तु वही सेवक यदि राजा के गुणानुवाद गावे तो राजा उस पर प्रसन्न होकर उसे अपने पास आने देगा। स्वातंत्र्य व पूर्णत्व केवल ईश्वर के गुण हैं, जीव निरन्तर परतंत्र व अल्प है। भगवान् की कृपा ही जीव का मोक्ष है। देव पूर्ण स्वतंत्र व सर्वज्ञ है और जीव इनसे अलग है। यह समझना ही बन्धन से मुक्ति है।

इस पंथ में छाप लगाना, नामकरण करना, तथा भजन करना ये तीन प्रकार की सेवाएँ बताई हैं। नारायण के शंख, चक्र आदि आयुधों की तप्त मुद्रा शरीर पर लगवाना ही अंकन सेवा है। निरंतर विष्णु का स्मरण होता रहे इसलिये पुत्रादि के नाम विष्णु के नाम पर रखाना-नामकरण सेवा है। भजन दस प्रकार के हैं—सत्य, हित, प्रिय भाषण, व स्वाध्याय वाचिक कर्म हैं; दया, स्पृहा, व श्रद्धा तीन प्रकार के मानसिक कर्म हैं। उनको श्रीकृष्णार्पण करना ही भजन है। द्वादशी व्रत तथा पूजा अर्चा मध्वाचार्य के अनुयाइयों को बहुत ही प्रिय है।

मध्वाचार्य के मत से वेद, भारत, पंचरात्र, मूल रामायण आदि शास्त्र प्रामाणिक हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र विष्णु की आज्ञा से दूसरे अयोग्य जीवों को मोह में डालने के लिये रुद्र ने बनाये और बनवाये हैं। वेद में जहाँ भी रुद्र की स्तुति हो वहाँ 'रुद्र' शब्द को विष्णु का पर्यायवाची समझना चाहिये। शिव के विरुद्ध आक्षेप करने से ही दक्षिण में शैव और वैष्णवों में व्यर्थ का झगड़ा बढ़ गया।

ईश्वर ने अपने आनन्द के लिये सृष्टि रचना की है ऐसा मध्वाचार्य मानते हैं। जीव अनन्त हैं और परमात्मा से बहुत भिन्न हैं ऐसा इनका मत है। हरिगुरु भक्ति, शम, दम, श्रवण, मनन, आदि साधनों से प्रसन्न होकर परमात्मा मोक्ष देता है। हृदय में बिंब रूप से वर्तमान परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान तथा पांचभौतिक देह सम्बन्धी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्ष में जीवों को उनके अनुरूप ही सुख मिलता है।

उन्होंने केवल देवऋषियों की स्त्रियों को ही वेदाधिकार दिया है। तीन वर्णों में विष्णु, गुरु भक्त तथा शम, दम, आदि गुण युक्त हो सकते हैं। उनको छोड़ कर दूसरों को वेदाधिकार

नहीं है। पूर्व जन्म में जिन्हें अपरोक्ष ज्ञान हो चुका है, ऐसे विदुर, धर्मव्याधादि के सिवाय दूसरे शूद्रों को वेदाधिकार नहीं है।

शंकर और रामानुज

हिन्दू धर्म का नवीन उत्थान श्री शंकराचार्य से माना जाता है जिन्होंने निरीश्वर बौद्ध धर्म के स्थान पर सेश्वर अद्वैतवाद की स्थापना तथा वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की। उनके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य के सिद्धान्त पर निवृत्ति प्रधान ज्ञान-मार्ग का प्रचार हुआ। किंतु वह केवल कुछ चुने हुए संसार विरक्त लोगों ही में प्रचलित हो सका और साधारण गृहस्थ जन-समाज की पहुँच के बाहर ही रहा। रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद का विरोध कर नारायणीय धर्म की प्रतिष्ठा की जिसके उपास्य सगुण या नारायण, अद्वैतवाद के निर्गुण ब्रह्म के समान संसारी बातों से अलग नहीं रहे। लोगों को ऐसे ही उपास्य देव की आवश्यकता थी जो उनकी निराशा में आशा और भय में विश्वास का संचार कर उनका रक्षक हो सके। यह विशिष्ठाद्वैत शंकर के अद्वैत से बहुत भिन्न नहीं था किन्तु उसमें लोकरंजन और भक्ति के आलंबन की विशेष सामग्री थी। रामानुज के साथ ही प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार हुआ।

शंकर, रामानुज और मध्व का मतैक्य

तीनों आचार्यों के मतों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कई बातों में मतभेद होने पर अनेक बातों में मतैक्य भी है। जैसे ब्रह्म व्यापक और शाश्वत है, वही सृष्टि का निमित्त कारण भी है, ऐसा तीनों का मत है। केवल माध्वाचार्य को यह बात मान्य नहीं है कि वह सृष्टि का उपादान कारण भी है। बाकी दोनों आचार्यों को यह मान्य है। तीनों के

इस पंथ में छाप लगाना, नामकरण करना, तथा भजन करना ये तीन प्रकार की सेवाएँ बताई हैं। नारायण के शंख, चक्र आदि आयुधों की तप्त मुद्रा शरीर पर लगवाना ही अंकन सेवा है। निरंतर विष्णु का स्मरण होता रहे इसलिये पुत्रादि के नाम विष्णु के नाम पर रखाना-नामकरण सेवा है। भजन दस प्रकार के हैं—सत्य, हित, प्रिय भाषण, व स्वाध्याय वाचिक कर्म हैं; दया, स्पृहा, व श्रध्दा तीन प्रकार के मानसिक कर्म हैं। उनको श्रीकृष्णार्पण करना ही भजन है। द्वादशी व्रत तथा पूजा अर्चा मध्वाचार्य के अनुयाइयों को बहुत ही प्रिय है।

मध्वाचार्य के मत से वेद, भारत, पचरात्र, मूल रामायण आदि शास्त्र प्रामाणिक हैं। इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र विष्णु की आज्ञा से दूसरे अयोग्य जीवों को मोह में डालने के लिये रुद्र ने बनाये और बनवाये हैं। वेद में जहाँ भी रुद्र की स्तुति हो वहाँ 'रुद्र' शब्द को विष्णु का पर्यायवाची समझना चाहिये। शिव के विरुद्ध आक्षेप करने से ही दक्षिण में शैव और वैष्णवों में व्यर्थ का झगड़ा बढ़ गया।

ईश्वर ने अपने आनन्द के लिये सृष्टि रचना की है ऐसा मध्वाचार्य मानते हैं। जीव अनन्त हैं और परमात्मा से बहुत भिन्न हैं ऐसा इनका मत है। हरिगुरु भक्ति, शम, दम, श्रवण, मनन, आदि साधनों से प्रसन्न होकर परमात्मा मोक्ष देता है। हृदय में बिंब रूप से वर्तमान परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान तथा पांचभौतिक देह सम्बन्धी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्ष में जीवों को उनके अनुरूप ही सुख मिलता है।

उन्होंने केवल देवऋषियों की स्त्रियों को ही वेदाधिकार दिया है। तीन वर्णों में विष्णु, गुरु भक्त तथा शम, दम, आदि गुण युक्त हो सकते हैं। उनको छोड़ कर दूसरों को वेदाधिकार

नहीं है । पूर्व जन्म में जिन्हें अपरोक्ष ज्ञान हो चुका है, ऐसे विदुर, धर्मव्याधादि के सिवाय दूसरे शूद्रों को वेदाधिकार नहीं है ।

शंकर और रामानुज

हिन्दू धर्म का नवीन उत्थान श्री शंकराचार्य से माना जाता है जिन्होंने निरीश्वर बौद्ध धर्म के स्थान पर सेश्वर अद्वैतवाद की स्थापना तथा वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा की। उनके द्वारा ब्रह्मात्मैक्य के सिद्धान्त पर निवृत्ति प्रधान ज्ञान-मार्ग का प्रचार हुआ। किंतु वह केवल कुछ चुने हुए संसार विरक्त लोगों ही में प्रचलित हो सका और साधारण गृहस्थ जन-समाज की पहुँच के बाहर ही रहा। रामानुजाचार्य ने शंकर के मायावाद का विरोध कर नारायणीय धर्म की प्रतिष्ठा की जिसके उपास्य सगुण या नारायण, अद्वैतवाद के निर्गुण ब्रह्म के समान संसारी बातों से अलग नहीं रहे। लोगों को ऐसे ही उपास्य देव की आवश्यकता थी जो उनकी निराशा में आशा और भय में विश्वास का संचार कर उनका रक्षक हो सके। यह विशिष्ठाद्वैत शंकर के अद्वैत से बहुत भिन्न नहीं था किन्तु उसमें लोकरंजन और भक्ति के आलंबन की विशेष सामग्री थी। रामानुज के साथ ही प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग का प्रचार हुआ।

शंकर, रामानुज और मध्व का मतैक्य

तीनों आचार्यों के मतों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें कई बातों में मतभेद होने पर अनेक बातों में मतैक्य भी है। जैसे ब्रह्म व्यापक और शाश्वत है, वही सृष्टि का निमित्त कारण भी है, ऐसा तीनों का मत है। केवल माध्वाचार्य को यह बात मान्य नहीं है कि वह सृष्टि का उपादान कारण भी है। बाकी दोनों आचार्यों को यह मान्य है। तीनों के

मत से परमात्मा ने लीला से ही सृष्टि की है। अनादि संसार से मुक्ति इनका ध्येय है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र व गीता, आदि वेदान्तशास्त्रों के मुख्य ग्रंथ तीनों को मान्य है। ब्रह्म-निरूपण के संबंध में श्रुति प्रामाण्य मुख्य होने पर भी श्रुति के अविरुद्ध तर्क को भी स्थान है। तर्क मर्यादित होने के कारण श्रुति ही अंतिम प्रमाण है। इस प्रकार श्रुति की शरण तीनों को स्वीकार है। कर्म केवल चित्त शुद्धि का साधन है। ज्ञान और भक्ति कर्म से भी श्रेष्ठ हैं ऐसा तीनों का मत है। उपासना तीनों को मान्य है। भगवान के अनुगृह से ही मोक्ष मिलता है इस सम्बन्ध में भी तीनों में एकवाक्यता है। व्यवहार के संबंध में सृष्टि सत्य होने पर भी शास्त्र मार्ग से ही ज्ञान लाभ होगा इसमें तीनों का एकमत है। केवल शंकराचार्य का जोर ज्ञान पर है व रामानुज व मध्वाचार्य का जोर भक्ति पर है। इतना ही कुल मतभेद है। ज्ञान में भक्ति और भक्ति में ज्ञान का समावेश रहता है। इस प्रकार दूसरे के मत के संबंध में उदार भावना रखना तीनों मतावलम्बी अच्छा समझते हैं।

निंबार्क (सन् १२०० से १२७५ ई०)

अन्य आचार्यों के समान निंबार्क ने भी ब्रह्मसूत्रों पर, 'वेदांत-पारिजात सौरभ' नामक भाष्य लिखा जिसमें उन्होंने अपने सिद्धांतों का संक्षिप्त किंतु स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया। उनके सिद्धांत में अद्वैत तथा द्वैत दोनों का समर्थन होने के कारण वह द्वैताद्वैत कहा जाता है। इसमें ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और उत्पादन कारण दोनों ही है। ब्रह्म निर्गुण और सगुण दोनों गुणों से युक्त है। इनके मत से

जगत् असत्य और मायिक नहीं है वरन् ब्रह्म का ही दूसरा रूप (परिणाम है)। जगत् केवल इसी दृष्टि से असत्य कहा जा सकता है कि वह नाशवान् है और ब्रह्म के बिना उसकी कोई सत्ता नहीं है। जगत् ब्रह्म से एक रूप भी है और अलग भी है, जैसे लहर समुद्र से एक रूप भी है और अलग भी। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म का अंश भी है और उससे एक रूप भी। यही द्वैताद्वैत का सिद्धान्त है।

जीव की मुक्ति उसके असली स्वरूप पहिचानने में है जो कि सच्चे ज्ञान और भक्ति, दोनों के सम्मिलन ही से हो सकती है। ज्ञान से सर्वव्यापी ब्रह्म का अनुभव होता है और भक्ति से सर्वग्राही प्रेम उत्पन्न होता है। जिसकी अंतिम परिणति सांत (आत्मा) के अनंत (परमात्मा) में समपेत हो जाने में है। इस दशा में आत्मा का व्यक्तित्व तो कायम रहता है किन्तु उसकी इच्छा ब्रह्म के समान हो जाती है। इस प्रकार मुक्ति में भी जीव ब्रह्म से पृथक् और एकाकार दोनों रहता है। वहाँ भी द्वैताद्वैत है। जहाँ तक आनन्द की मात्रा का संबंध है वह ब्रह्म के समकक्ष है किन्तु जहाँ तक अधिकार का संबंध है वह ब्रह्म के बराबर नहीं। मुक्त जीव जन्म मरण के चक्र से अलग रहता है। लोकहित के सिवा वह किसी भी कारण से जन्म नहीं ले सकता। इस प्रकार वह ब्रह्म से एकरूपता का अनुभव करके भी उससे अलग सा रहता है।

इस सिद्धांत में अद्वैत और द्वैत दोनों मतों का अलग-अलग दृष्टियों से समर्थन है। उपनिषदों में दोनों के समर्थन में वाक्य मिल सकते है। उनसे सिद्ध होता है कि जब हम व्यवहार जगत् में रहते हैं तब हमें द्वैत में बर्ताव करना पड़ता है किंतु जब असली स्वरूप पर ध्यान देते हैं तब अद्वैतवाद का अनुभव

होता है। इस सिद्धांत का हनुमान जी के मुख से बड़ी सुंदरता-पूर्वक समन्वय कराया गया है, "देह दृष्टि से मैं तुम्हारा दास हूँ ; जीव की दृष्टि से मैं तुम्हारा अंश हूँ और तत्व की दृष्टि से मैं तुम्हारा ही रूप हूँ।"

"देह बुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाऽहं इति मे निश्चिता मतिः॥

इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण, सक्रिय और अक्रिय समझने में भी दृष्टि का भेद है। श्रुतियों में भी दोनों ही के समर्थन में वाक्य मिलते हैं, "ब्रह्म के दो रूप हैं पार्थिव और अपार्थिव पार्थिव विनाशी है और अपार्थिव सत्य।" (१) इसी प्रकार ब्रह्म को अचिंत्य भी कहा गया है और अनुभवगम्य भी। हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार भी वह अज्ञेय और अज्ञात् है। उपनिषदों में उसे परस्पर-विरोधी विशेषणों से संबोधित किया गया है। (२)

निंबार्क ने ब्रह्म की शक्ति ही को जगत् की उत्पत्ति का कारण माना है। वह शंकर की माया के समान भ्रमात्मक नहीं किन्तु क्रियात्मक शक्ति है। उन्होंने परिणामवाद के सिद्धांत को स्वीकार किया है। ब्रह्म ही जगत् के रूप में परिणमित होता है। इसी लिये जगत् ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत का निमित्त कारण है। साथ ही वह उसका उपादान कारण भी है। जगत् के निर्माण में वह बाहिरी उपादानों से सहायता नहीं लेता क्योंकि वे सब उसी में मौजूद हैं। दूध से दही बनने के लिये बाहर से कुछ सामग्री लेनी नहीं पड़ती।

---

(१) मैत्रेयी उपनिषद् ६-३

(२) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

अपने भेदाभेद और द्वैताद्वैत सिद्धांतों में निंबार्क ने अपने समय में प्रचलित परस्पर विरोधी समझे जाने वाले सिद्धांतों के समन्वय का जो प्रयत्न किया है वही संसार को उनकी सबसे बड़ी देन है।

वल्लभाचार्य

(सन् १४७३-१५३१ ई०)

जिन आचार्यों ने भक्ति को प्रधानता दी उनमें वल्लभाचार्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वे शुद्धाद्वैत के जन्मदाता हैं। शंकर के मायावाद के विरुद्ध उनका शुद्धाद्वैत यह सिद्ध करता है कि मायावाद के बिना भी अद्वैत की सिद्धि की जा सकती है। अद्वैत सदा शुद्ध रहेगा। कारण (ईश्वर) और कार्य-(विश्व) दोनों ही माया रहित और शुद्ध हैं। ब्रह्म सत् चित् आनन्द और रस मय है। आनन्द के साथ रस को अलग तत्व मानना वल्लभ की विशेषता है। ब्रह्म पूर्ण तथा पुरुषोत्तम है। उसमें ज्ञान और क्रिया शक्ति मुख्य हैं। उसमें सांसारिक या पार्थिव गुणों का अभाव है। ब्रह्म का एक शरीर (विग्रह) भी है और वह पूर्ण आनन्द से बना हुआ है। वह कर्त्ता और भोक्ता दोनों है। सारा विश्व उसकी लीला से उत्पन्न है। विश्व के रूप में परिणत होकर भी ब्रह्म में कोई विक्रिया (विकार) उत्पन्न नहीं होती। यह अविकृत परिणामवाद, इनका मुख्य सिद्धान्त हैं।

पूर्ण (पुरुषोत्तम) ब्रह्म के बाद दूसरा दर्जा अक्षर ब्रह्म का है। उसमें सत और चित् तो पूर्ण हैं किन्तु आनन्द कम है। वह भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता है। ज्ञान के द्वारा मोक्ष देने की इच्छा से ब्रह्म चार रूपों में विभक्त होता है—अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव। अक्षर के दो रूप होते हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति ही जगत के रूप में परिवर्तित होती है। परब्रह्म और अक्षर

ब्रह्म में भेद करने वाले वल्लभ ही सबसे पहिले आचार्य हैं। सृष्टि का निर्माण वे अट्ठाईस तत्त्वों द्वारा मानते हैं जिन्हें वे 'पदार्थ' भी कहते हैं। सांख्य के तत्त्वों और इन 'पदार्थों' के गुणों और लक्षणों में बहुत अन्तर है। सांख्य के त्रिगुण प्रकृति ही के अंग हैं किन्तु 'पदार्थों' में वे बिलकुल अलग-अलग हैं।

सृजन की इच्छा होने पर ईश्वर की लीला से अक्षर में से अग्नि के कणों के समान हजारों जीवों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंश अथवा अणु है। जीव में से आनंद का अंश निकल जाने के कारण वह बंधन में पड़ा है। वह अमर और अजन्मा है; वह ज्ञाता कर्त्ता अनुभविता भी है। जीवों के तीन प्रकार हैं (१) प्रवाह, अथवा संसार विरत (२) मर्यादा अथवा वेद मार्ग निरत तथा (३) पुष्टि अथवा भक्ति निरत।

विश्व ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण तद्रूप और यथार्थ है। वह ब्रह्म का आधिभौतिक शरीर है। उसमें सत प्रगट तथा चित् और आनन्द अप्रगट हैं। शंकर के समान वल्लभ विश्व को माया को असत्य नहीं मानते किन्तु सत्य और यथार्थ मानते हैं। इतना होने पर भी वे 'संसार' को असत्य और अविद्या जन्य मानते है। इस प्रकार वे सत्य 'विश्व' और असत्य 'संसार' मे भेद करते हैं। यह संसार अहंता और ममता से बना हुआ है और इसे नष्ट करना जीव का धर्म है।

इसके लिये कर्म ज्ञान और भक्ति मार्गों को स्वीकार करते हुए भी वल्लभ भक्ति को प्रधानता देते हैं। वे वेदों के कर्मकांड में ब्रह्म का अग्निहोत्र आदि पांच क्रियाओं के रूप में प्रकट होना मानते हैं किन्तु उत्तर काण्ड में केवल ज्ञान रूप में कर्म-कांड के द्वारा देवयान मार्ग से जीव मोक्ष प्राप्त करता है किन्तु

यदि उस पर ईश्वर की कृपा हो जाती है तो वह तुरन्त ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म ज्ञान प्राप्त न होने पर यदि मनुष्य निष्काम भाव से वैदिक क्रिया करता रहता है तो भी उसे आत्मानंद मिल सकता है। किंतु जो किसी कामनावश ऐसा करता है वह केवल स्वर्ग को प्राप्त होता है जहाँ से पुण्य क्षीण होने पर जन्म मरण में आना पड़ता है। इस प्रकार स्वर्ग और मोक्ष का भेद किया गया है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा जीव अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाता है। किन्तु यदि ब्रह्मज्ञान के साथ भक्ति का संमिलन हो जाता है तो वह पूर्ण पुरुषोत्तम में लीन होता है। इन दोनों से भी ऊपर एक तीसरी स्थिति है जिसे कि 'भजनानंद' या 'स्वरूपानंद' कहा गया है। ब्रह्म जिस जीव पर कृपा करता है उसे दिव्य शरीर देकर उसके साथ नित्य लीला करता है। यह स्थिति तथा आनंद ईश्वर कृपा ही के द्वारा प्राप्त हो सकता है न कि जीव के कर्त्तव्य से। इस ईश्वरीय कृपा का नाम 'पुष्टि' है और इसी की प्रधानता होने के कारण वल्लभाचार्य के मार्ग को पुष्टिमार्ग कहा गया है।

इसका सबसे अधिक विकास गोपी भाव में हुआ है। वे ही पुष्टिमार्ग के आचार्य हैं। इस मार्ग में सर्वात्म-भाव से ईश्वर को सब कुछ समझ कर प्रेम करना आवश्यक है। ज्ञानियों और भक्तों के 'सर्वात्म भाव' में भी अन्तर है। ज्ञानी ब्रह्म को सर्वत्र देखते हैं किन्तु भक्त ब्रह्म में सब कुछ देखते हैं। इस 'स्वरूपानंद' को वल्लभ ब्रह्मानंद से भी ऊँचा मानते हैं। शुद्धाद्वैत में वही सबसे बड़ा मोक्ष है। ब्रह्म रसमय है—(रसो वै सः) यह इस मार्ग का मुख्य सिद्धांत है। रस आठ माने गये हैं और शृंगार या प्रेम इनमें प्रधान है। शृंगार के भी दो रूप हैं—संयोग और विप्रयोग। इन्हीं के अनुसार रस भी दो प्रकार

का हो जाता है—संयोग रस और विप्रयोग रस। विप्रयोग या वियोग, संयोग रस से भी ऊँचा रस है।

वल्लभ ने पुष्टिमार्ग और मर्यादा मार्ग में काफी भेद किया है। मर्यादा मार्ग में वैदिक क्रियाओं को तब तक करना आवश्यक है जब तक प्रेम उत्पन्न न हो और ईश्वर प्रसन्न होकर जीव को सायुज्य मुक्ति न दे। किन्तु पुष्टिमार्ग में ईश्वर कृपा ही मुख्य मार्ग है। मर्यादा मार्ग केवल तीन वर्णों और पुरुषों ही के लिये विहित है किन्तु पुष्टिमार्ग सभी वर्णों और जातियों के पुरुषों और स्त्रियों के लिये खुला है। अपने समय की आवश्यकता देख कर वल्लभ ने जनसाधारण, विशेष कर स्त्रियों और शूद्रों के लिए, कर्म ज्ञान और भक्ति मार्ग के ऊपर सर्व सुलभ पुष्टिमार्ग की स्थापना की। उपनिषदों में जिस कृपा का मूल स्रोत उदय हुआ था वही गीता और भागवत में पूर्णता को प्राप्त हुआ। उसी मार्ग को प्रशस्त करना वल्लभाचार्य की विशेष देन है। दूसरे आचार्यों ने भी कृपा का महत्त्व माना किंतु वह 'मर्यादा' में जकड़ी रही। ईश्वर की महत्ता और शक्तिमत्ता से भयभीत जीव उसके पास तक नहीं पहुँच पाता किंतु वल्लभ की स्नेहात्मक भक्ति उसे उनके चरणों के समीप तक ला देती है। इतना ही नहीं किन्तु 'गोपीनां वल्लभः' से आकर्षित होकर वह उसके वक्षस्थल से लग जाता है। ईश्वर जो एक समय प्रभु था अब सखा और वल्लभ बनकर स्वर्ग के आसन से उतर आता है और वृन्दावन में रास-लीला करने लगता है।

पुष्टिमार्ग में सर्वसमर्पण का भाव बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुँच गया है। अपनी सब धन संपत्ति ही नहीं किंतु अपने सारे परिवार और स्वयं अपने आपको श्रीकृष्णार्पण करना भक्त

के लिये आवश्यक है। संसार के सम्बन्ध को तोड़ कर 'ब्रह्म संबंध' स्थापित करने ही लिए इस नाम का एक विशेष संस्कार रचा गया। संसारत्याग या सन्यास के बदले गृहस्थ रहते हुए भी सर्वस्व त्याग का सिद्धांत इसमें निहित है। आचार्य के अनुसार बिना असली त्याग वृत्ति के ऊपरी सन्यास कलियुग में आत्मोन्नति का बाधक है। जब ईश्वर के साथ विप्रयोग बिल्कुल असह्य हो जावे उसी अवस्था में सन्यास विहित सपरिवार श्रीकृष्ण सेवा ही गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य है। सेवा में बाधक होने वाले कुटुम्बियों का त्याग कर सेवा करने का आदेश है। इस प्रकार पुष्टिमार्गी के लिये सारा गृहस्थ जीवन सेवामय ही नहीं बल्कि सेवारूप हो जाता है। पुष्टिमार्गी के लिये वर्णाश्रम धर्म से भी बढ़ कर भागवत-धर्म है, वर्ण धर्म से भी ऊंचा आत्म-धर्म है वर्णाश्रम धर्म केवल शरीर से संबंध रखता है और सेवा धर्म आत्मा से। ईश्वर और जीव से संबन्ध स्थापित करना ही पुष्टिमार्ग का उद्देश्य है फिर चाहे वह संबंध किसी भी भाव से उत्पन्न क्यों न हो। सर्वस्व समर्पण और सर्वात्म भाव से युक्त पुष्टिमार्ग में सदाचार की अवहेलना असंभव है। सब सेवाओं से बढ़ कर (अथवा जो दूसरी सेवाएं न कर सके उसके लिए) 'प्रपत्ति या शरणागति ही सबसे बड़ी सेवा है।

श्रीनाथ जी इनके मुख्य उपास्य देव हैं। भागवत के द्वादश स्कंधों के समान उनके भी बारह अंग हैं। वे भागवत के मूर्तिमान अवतार ही हैं। दशमस्कंध की रासलीला ही उनका हृदय है। दूसरी मूर्तियां श्रीकृष्ण की विभूतियों अथवा व्यूहों से युक्त हैं किन्तु श्रीनाथ जी पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। श्रीकृष्ण के चार व्यूह इनको भी मान्य हैं जो कि क्रमशः मोक्ष प्रदान,

विश्व का भारापहरण सृजन तथा धर्म स्थापन करते हैं किंतु ये सब व्यूह पूर्ण पुरुषोत्तम से नीचे दर्जे के हैं। व्यूहों की अर्चना को पूजा, और श्रीनाथजी की अर्चना को सेवा कहा जाता है। यही सेवा पुष्टिमार्ग का सार है।

अपने मत के प्रचार के लिये सभी आचार्यों ने प्रस्थान-त्रयी (उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और गीता) को मुख्य आधार माना है किंतु वल्लभ ने उसमें भागवत को जोड़ दिया है। उसका महत्व इतना बढ़ा दिया है कि वेदों का संदेह गीता के द्वारा गीता का ब्रह्मसूत्रों के द्वारा और ब्रह्मसूत्रों का भागवत के द्वारा निराकरण किया जावे। भागवत को, व्यास की सर्वोच्च कृति होने के कारण उन्होंने समाधि भाषा कहा है। उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर अनुभाष्य तथा बृहत् भाष्य लिखे। जैमिनि सूत्रों पर भी एक भाष्य लिखा। भागवत् पर उनकी टीका सुबोधिनी के नाम से प्रसिद्ध है। उनके सिद्धांतों का सबसे अच्छा प्रतिपादन तत्वदीप निबंध नामक ग्रन्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त १६ छोटे-छोटे ग्रंथ भी उनके प्रसिद्ध हैं।

श्री रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी, और निंबार्क ये चार मुख्य वैष्णव आचार्य माने जाते हैं जिन्हें क्रमशः श्री, ब्राह्म, रुद्र, और सनकादि संप्रदाय प्रसिद्ध हैं।

रामानुज ने ब्रह्म की पाँच अभिव्यक्तियों में अंशावतार और पूर्णावतार को भी संमिलित किया था जिनके आधार पर बाद के आचार्यों ने श्रीकृष्ण को पूर्णावतार तथा अन्य अवतारों को अंशावतार मान कर उनकी आराधना प्रारंभ की। माध्वाचार्य ने श्रीकृष्ण ही को ब्रह्म मानकर उनकी उपासना चलाई। विष्णु स्वामी ने कृष्ण के साथ राधा को

भी स्थान दिया । निंबार्क ने कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक उच्च स्थान पर आसीन कर दिया और उनके साथ सर्वोच्च स्वर्ग के रूप में गो-लोक की अवतारणा की। वल्लभाचार्य ने इसी भावना को और पुष्ट कर पुष्टिमार्ग को जन्म दिया । चैतन्य ने बालकृष्ण की उपासना की तथा जयदेव ने युवा कृष्ण को अपना आराध्य माना।

उस समय ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता पर भाष्य लिखकर अपने मत का प्रतिपादन उन्हीं के आधार पर करना आचार्यत्व का मुख्य लक्षण माना जाता था । इसीलिये इन सभी ने उन पर भाष्य लिखे।

आलवार और आचार्य

भागवत तथा रामानुज के ग्रन्थों ने भक्ति के आंदोलन को बहुत बल दिया तथा उसे दार्शनिक रूप देकर उसके महत्त्व को बढ़ाया । किंतु दोनों में इतना अंतर था कि भागवत ने प्रेम प्रधान भक्ति को प्रधानता दी और रामानुज के श्रीभाष्य में ज्ञान प्रधान भक्ति को महत्त्व दिया। इसके बाद के भक्ति आंदोलन में भक्ति की दो धाराएँ—ज्ञान प्रधान और भक्ति प्रधान स्पष्ट लक्षित हुईं। प्राचीन आलवारों और रामानुज आदि आचार्यों में यही प्रधान अंतर था कि आलवारों ने लोकभाषा में हृदय से निकाले हुए उद्गारों को ग्रथित किया था किन्तु आचार्यों ने उसके साथ ही साथ दार्शनिक प्रणाली तथा देव वाणी का आश्रय ग्रहण लिया। इसका फल यह अवश्य हुआ कि वह विद्वानों के लिये भी वह आकर्षक बन गई। यद्यपि वह साधारण जनता से कुछ दूर पड़ गई किंतु पंडित मंडली में उसे गौरव पूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। दूसरी ओर आलवारों

ने जिस प्रेमा भक्ति का प्रचार किया था उसे आचार्यों ने दार्शनिक रूप देकर गौरव प्रदान किया। साथ ही आलवार संतों ने हृदय प्रधान प्रेमा भक्ति परंपरा को जारी रख कर उसे जनता के लिये अधिक आकर्षक बनाया। धर्मग्रंथ देववाणी में होने के कारण इसके जनता तक पहुंचने में जो बाधा थी वह इन आचार्यों ने तामिल 'प्रबन्धम्' के साथ मिला कर दूर कर दी। प्राचीन संस्कृत शास्त्रों तथा तामिल ग्रंथों के सिद्धांतों का समन्वय करने ही में आचार्यों की विशेषता थी। उनकी 'उभय वेदांती' की उपाधि बहुत ही सार्थक है। आलवारों के प्रबंधों को वेदों की बराबरी से बिठलाना तथा उनका प्रचार करना आचार्यों ही का काम था। आचार्यों ने भी आलवारों की पूजा पद्धति, व्रत उत्सव तथा रीति-नीति को ग्रहण किया। अन्तर केवल यह था कि आलवार विधि विधान रहित बंधनहीन भक्ति के उपासक थे जबकि आचार्य मर्यादावाद तथा प्राचीन परंपरा के पोषक थे।

षष्ठ प्रकरण

शाक्तों की समन्वय शक्ति

विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का उल्लेख वेदों में हो चुका है। इससे प्रगट होता है कि सब से पहले इन्हीं के साथ युग्म की कल्पना प्रारंभ हुई। विष्णु को गृह्यसूत्रों में जब वैवाहिक और गार्हस्थ देवता मान लिया गया, तब उनके साथ उनकी पत्नी लक्ष्मी की कल्पना भी दृढ़ होना स्वाभाविक ही था। सरस्वती का देवी के रूप में वेदों में उल्लेख मिलता है। बाद में ब्रह्मा की पत्नी के रूप में इन्हीं की उपासना चल पड़ी। रुद्राणी और भवानी का उल्लेख पतंजलि ने भी किया है। जान पड़ता है शिव के साथ शक्ति की कल्पना त्रिदेवों में सबसे अन्त में विकसित हुई। शिव का सन्यास मार्ग के देवता गिरि निवासी

तथा श्मशानवासी होना ही इसका कारण हो सकता है। किंतु गृहस्थों के लिये आकर्षक बनाने के लिये अन्य देवों के समान इनका भी शक्ति के साथ संयुक्त होना आवश्यक था। यदि रुद्र पर्वत निवासी हैं तो उनकी शक्ति भी "पार्वती" होना चाहिये। यदि वे "कर्पूर गौर" हों तो उनकी पत्नी भी "गौरी" होना आवश्यक है।

वेबर के अनुसार जिस प्रकार शिव में अग्नि और रुद्र इन वैदिक देवताओं का समन्वय हुआ, उसी प्रकार शक्ति में रुद्र की पत्नियाँ उमा, अंबिका, पार्वती, और हैमवती तथा अग्नि की पत्नियाँ काली, कराली आदि का समन्वय हुआ। (१)

फ्रेजर आदि की यह स्थापना है कि दुर्गा अथवा पार्वती असल में अनार्यों या पार्वत्य जातियों की आराध्य देवी थीं। आर्यों से संपर्क में आने पर उन्होंने अपनी समन्वय भावना के कारण इन्हें आर्य देवियों में शामिल कर दिया। (२)

ईश्वर की भावना पिता और माता दोनों ही रूप से की गई। वैदिक पृथ्वी सूक्त मे हमे पृथ्वी माता की स्तुतियाँ मिलती हैं। किंतु आर्य धर्म की यह मातृ-भावना उत्तर मे उतनी विकसित नहीं हुई जितनी कि दक्षिण में द्रविड़ जाति से संपर्क में आने पर हुई। उन्हें अनार्य जातियों में देवियों की पूजा पहिले से प्रचलित मिली। यह मातृ पूजा उस समय की परंपरा जान पड़ती है जबकि परिवार में माता को सर्वोच्च पद प्राप्त था (३) क्रुक ने मातृ-पूजा की प्राचीनता पर बहुत कुछ लिखा

(१) Weber : Bulletin of the London School of Oriental Studies Vol. VI, pp. 539.

(२) E. R. E. (V) Page 22.

(३) E. R. E. (V) Page 4.

है (४) टेलर के मतानुसार बहुत सी आदिम जातियों में पृथ्वी स्त्री रूप से मानी जाती थी (५) जब आदि निवासी एक स्थान पर रह कर कृषि की ओर झुके होंगे तभी पृथ्वी की उत्पादक शक्ति के कारण उसमें मातृत्व की कल्पना जागी होगी। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि स्त्री ही ने कृषि-कार्य में प्रथम पदार्पण किया। कृषि कार्यों के समय इन देवियों की पूजा होना उनके कृषि के संबंध को सिद्ध करता है। (६) दक्षिण में मरियम्मा की पूजा कटनी के समय की जाती है। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से बकरे का सिर जमीन में गाड़ने की प्रथा भी दक्षिण में प्रचलित है। (७) छोटा नागपुर और उड़ीसा की स्त्रियाँ भी एक साथ पृथ्वी को थपथपाती हैं। इसका भी यही उद्देश्य समझा जाता है। (८) देवी को दुर्गा सप्तशती में शाकंभरी नाम से संबोधित किया गया है तथा उन्हें कृषि रूप ही माना गया है :—

"वार्त्ताऽसि सर्वजगतां परमार्तिहंत्री।"

इसके अतिरिक्त दक्षिण में युग्म के रूप में देवताओं की कल्पना भी प्रचलित थी। अर्धनारी नटेश्वर शिव पार्वती की भावना दक्षिण ही में विकसित हुई।(९) भूमि देवी के पति रूप में विष्णु की कल्पना भी वहीं प्रारंभ हुई। जान पड़ता है दक्षिण में दुर्गा के नामों में पृथ्वी, देवी 'ठाकुर रानी' तथा दुर्गाम्मा'

---

(४) Premitive Culture.

(५) Premitive Culture.

(६) Indian Interpreter, 1917.

(७) Do.

(८) Do.

(९) Hymns of Tamil Saivaite Saints p. 13

नाम भी शामिल हैं।(१०) तंजोर जिले में ग्रामदेवियाँ सात बहनें मानी गई हैं जिनका उद्भव पार्वती से है। (११) दक्षिण द्रविड़ों की देवी एलम्मा सर्पिणी के रूप में है। कहा जाता है कि "अम्मा" शब्द का अर्थ ही 'स्त्री' होता है (१२) किन्तु माँ के अर्थ ही में अधिकतर इसका प्रयोग किया जाता है।

कुछ लोग इस मातृ भावना को आर्य धर्म में द्रविड़ जातियों की देन मानते है। इसे अपने धर्म में शामिल कर आर्यों ने अपनी समन्वय बुद्धि का परिचय दिया। किंतु अन्य विद्वानों की संमति में बौद्ध धर्म की तांत्रिक शक्तिपूजा से प्रभावित होकर आर्य धर्म ने इसे अपनी पूजा-पद्धति में शामिल किया।(१३) जिसप्रकार शंकर के रुद्र (घोर) और शिव (कल्याण मय) दोनों रूप है इसी प्रकार दुर्गा के भी रुद्राणी और भवानी दो रूप प्रसिद्ध है, जिन्हें दुर्गा सप्तशती मे सौम्य और घोर रूप कहा गया है। (१४)

दुर्गा हमारे धर्म मे सर्व-समन्वय की प्रतीक रूप हैं। उसमे मातृ रूप से जिन देवियों की उपासना आर्य या अनार्यों में की जाती थी [शैलपुत्री कौमारी आदि] वे सब संमिलित कर दी गई है। शक्ति प्रधान जितने देवता हैं उन सब की शक्तियां भी आकर प्रधान शक्ति की सहायता करती है। रोद्री, वाराही, नारसिंही, ब्रह्माणी, वैष्णवी, तथा माहेश्वरी अपने-

(१०) E. R. E. pp. 118
(११) White—head : E. R. E. pp. 123.
(१२) Indian Interpreter
(१३) M. A. Sastri : Modern Budhism
(१४) सौम्यानि यानि रूपाणि विचरन्ति महीतले।
यानि चात्यन्त घोराणि तैरस्मान्रक्ष सर्वतः॥ दुर्गा०

अपने वाहनों पर युद्ध करने आतीं हैं और जब राक्षस उनकी अनेकता पर संदेह करते हैं तब सब एक रूप हो जाती हैं और दुर्गा घोषणा करती हैं :—

"मेरे सिवाय जगत् में दूसरा कौन है ? मैं एक हूँ। मुझ ही में मेरी सब विभूतियां आकर एकत्र होती हैं।" इस प्रकार सब शक्तियाँ उसी की विभूतियां मात्र रह जाती हैं।(१५) अंतिम तीन शक्तियां [वैष्णवी ब्रह्माणी और माहेश्वरी] की एकता बतला कर त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु महेश) की एकता का प्रतिपादन किया है। :—

"सृजन के समय सृष्टिरूपा पालन के समय स्थितिरूपा तथा नाश के समय संहृतिरूपा तुमही जगन्मयी हो" ॥(१६)

"माहेश्वरि स्वरूपेण, नारायणि नमोऽस्तुते" में बड़े सुन्दर ढंग से शिव, विष्णु की एकता सिद्ध की गई है।

दुर्गा सप्तशती प्रथम चरित्र में विष्णु की योग निद्रा से शक्ति प्रगट होती है। मध्यम चरित्र में पार्वती से चंडिका शक्ति उत्पन्न होती है तथा उत्तम चरित्र में वैष्णवी और माहेश्वरी शक्ति के साथ ब्रह्माणी शक्ति भी अपने मंत्रों द्वारा दानवों का नाश करती है। इन कथाओं में यही तत्व स्थापन किया गयाहै।

वैदिक काल में लक्ष्मी, भवानी, उमा, हैमवती, तथा सरस्वती का अलग-अलग देवियों के रूप में वर्णन किया गया है। शक्ति उपासना ने इन तीनों को विष्णु शिव और ब्रह्मा की शक्ति के रूप में प्रतिपादन किया तथा तीनों की एकसूत्रता पर

[१५] एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥ दु० १—५

[१६] विसृष्टौ सृष्टिरूपात्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपा त्वं जगतोऽस्य जगन्मये ॥ (दु १ ७९

जोर देकर एक नवीन समन्वय का सिद्धांत संसार के सामने रक्खा। उनके विविध गुणों, नाम-रूपों और भूषण वाहनों से समाज की विविध आवश्यकताओं की भी साधना होती है।

विभिन्न गुण धर्मों का दुर्गा में समन्वय होने के कारण उसमें उपनिषद् के ब्रह्म के समान "तदेजति तन्नेजति" के परस्पर-विरोधी गुण भी आगए हैं। वे अति सौम्य होने के साथ ही अति रौद्र भी हैं (अति सौम्यातिरौद्रायै) कालिका होकर भी गौरी हैं, चित्त में कृपालु हो कर भी समर में अत्यंत निष्ठुरता का प्रदर्शन करती हैं। (चित्ते कृपा समर निष्ठुरता च दृष्टा) महामारी और अजन्मा सृष्टि भी वही हैं। (सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा) संसारिक अभ्युदयकर्त्री ऋद्धिप्रदा अपरा विद्या वे ही हैं(१७) और पारलौकिक मुक्ति या निःश्रेयसप्रदा परा विद्या भी वे ही हैं। (१८) अर्थ के साथ सांसारिक भावनाओं की पूरक भी वे ही हैं। शाप और वर दोनों में वे समर्थ हैं। इस प्रकार इस उपासना में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों वर्गों की साधना और सिद्धि के उपायों का एक ही में समन्वय किया गया है। एक ही रूप में शील सौंदर्य तथा शक्ति का यह अभूतपूर्व समन्वय संसार में अन्यत्र दुर्लभ है। वैरियों पर भी दया प्रगट करने का शील, अतुलनीय रूप तथा शत्रुनाश का पराक्रम दुर्गा ही में मिलता है।(१९)

---

(१७) देवि त्रयी भगवती भवभावनाय (दु० ४-१०)

(१८) या मुक्तिहेतु रविचिन्त्य महाव्रता त्वमभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रिय तत्वसारैः। मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्त दोषैर्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि। (दु० ४-९)

(१९) दुर्वृत्त वृत्तशमनं तव देवि शीलं
रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः। [दुर्गा० ४-२]
वीर्यं च हन्तृ हृतदेवपराक्रमाणां
वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम्। (दु० ४-२१)

देवी पूजा में प्रचलित आर्यों का पृथ्वी सूक्त तथा अनार्यों की भूमि-पूजा मिली हुई है (मही स्वरूपेण यतः स्थिताऽसि) उसी प्रकार वैदिक वरुण पूजा भी जल स्वरूपा (अपांस्वरूप स्थितया) देवी की पूजा में आ जाती है। असल में देवों के तेजों की एकत्र मूर्ति ही चंडिका की प्रचंड मूर्ति है। हरि, शंकर और ब्रह्मा आदि देवों के क्रोध पूर्ण रूप के एकत्र होकर नारी-रूप हो जाने ही से चंडिका शक्ति बनती है। शरीर के विभिन्न अंग भी उन्हीं के तेज से निर्मित हैं। शंकर के तेज से मुख, विष्णु से बाहु, रात्रि से केश, इन्द्र से कटि, वरुण से जंघा, पृथ्वी से नितंब, ब्रह्मा से चरण, सूर्य से अंगुली, वसुओं से हाथ की अँगुलियाँ, कुबेर से नासिका, प्रजापति से दांत, अग्नि से नेत्र, संध्या से भ्रू, वायु से कान बनते हैं।(२०) यह कल्पना पुरुष सूक्त तथा पुराणों के विश्व रूप की कल्पनाओं का परिणत रूप है।

सब देवों के अस्त्र शस्त्र भी दुर्गा में एकत्र हो जाते हैं। विष्णु का चक्र, वरुण का शंख, अग्नि की शक्ति, मरुत का चाप-बाण, इन्द्र का वज्र, यम का दण्ड, वरुण का पाश, प्रजापति की माला, ब्रह्मा का कमंडलु, सूर्य की किरणें, काल की ढाल तलवार तथा विश्वकर्मा का परशु सब मिल कर उनकी शक्ति बढ़ाते हैं। उसी प्रकार वाहन तथा भूषण भी उन्हें प्रकृति से प्राप्त होते हैं।(२१)

सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति तथा वेदान्त की माया का शक्ति ही में समन्वय है।(२२)

---

(२०) दुर्गा २ श्लो० १४ से २८

(२१) दुर्गा २ श्लो० ३० से ३२

(२२) प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रय विभाविनी (दु० १-७८
विश्वस्यबीजं परमाऽसि माया। (दु० ११-५)
विष्णु मायेति शब्दिता। (दु० ५-१४)

सब विद्याओं और कलाओं का भी इसीमें एकीकरण है। (२३) मेधा और श्रद्धा, बुद्धि और शक्ति, क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति, चेतना और निद्रा, कालरात्रि और ज्योत्स्ना, छाया और प्रकाश, तृष्णा और क्षान्ति, क्षुधा और तितिक्षा, शांति और क्रांति, कांति और लक्ष्मी, वृत्ति और निवृत्ति, दया और कठोरता, तुष्टि और पुष्टि, भ्रांति और चिति, स्वाहा और स्वधा, विद्या और माया, मोह और ज्ञान, सभी का इसमें एकत्रीकरण है।(२४)

इस शक्ति उपासना में संसारिक ऋद्धि और योगि सिद्धि, विजय और विभूति महाबल और महोत्साह निर्भयता और निःशंकता तथा यश और कीर्ति प्रदान करने की शक्ति है।

इसका उद्देश्य आत्म-कल्याण के साथ जगत्कल्याण की प्राप्ति है (जगतोऽर्थे तथात्मनः)। इसकी अंतिम प्रार्थना यही है कि सब जगत् की सारी बाधाएँ शमित होकर धर्म और जगत् के शत्रुओं का नाश हो :—

सर्वा बाधाप्रशमनं त्रैलोक्यस्याऽखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम् ॥

शाक्त मतानुयायी तो कृष्ण, वसिष्ठ आदि तक की सिद्धि तांत्रिक साधनाओं द्वारा प्राप्त करना बतलाते हैं। वे परशुराम को 'परशुराम कल्पसूत्र' नामक तांत्रिक ग्रंथ का कर्ता तथा श्रीविद्या का आचार्य मानते हैं। 'त्रिपुरा-रहस्य' में परशुराम त्रिपुरा देवी के भक्त कहे गये हैं। ब्रह्मांड पुराण के अनुसार अगस्त्य ने हयग्रीव से इस श्रीविद्या का रहस्य सीखा। उनकी स्त्री लोपामुद्रा

---

(२३) विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः (दु० ११. ६.)
कला काष्ठादि रूपेण परिणाम प्रदायिनी (दु० ११-९)
(२४) दुर्गा० ५ वां अध्याय तथा प्रथम अध्याय, ब्रह्मा स्तुति

ने भी श्रीविद्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। शक्ति उपासना से तंत्र का घनिष्ठ संबंध है। विंटरनित्ज के अनुसार "जब हम तंत्र की चर्चा करते हैं तब हम शाक्तों की पवित्र पुस्तकों का विचार करते हैं।"

यद्यपि तंत्र पाँच भागों में विभाजित किये गये हैं—(शैव शाक्त, वैष्णव, सौर तथा गाणपत्य) किंतु शाक्त मत तथा तंत्र समानार्थक समझे जाने लगे हैं। पुराणों में हमें तांत्रिक तथा वैदिक दोनों प्रकार की उपासनाएँ मिलती हैं। अतः तंत्र, पुराण के पहिले के जान पड़ते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि बौद्ध धर्म के बाद तंत्रों का उदय हुआ। किंतु 'ललित विस्तर' आदि बौद्ध ग्रंथों में तंत्रों की चर्चा मिलने तथा बौद्ध तंत्र में मंजुश्री तारा आदि देवियों की पूजा पायी जाने से यह बात भी सिद्ध नहीं होती।

'नारायणीय तंत्र' कहता है कि वेदों का उद्भव यमल नामक ग्रंथों से हुआ। इसके अनुसार 'ब्रह्म-यमल' से सामवेद, 'रुद्र-यमल' से ऋग्वेद, 'विष्णु-यमल' से यजुर्वेद तथा 'शक्ति-यमल' से अथर्ववेद की उत्पत्ति हुई। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि तंत्र ग्रंथों के पहिले 'यमल' नामक कोई ग्रंथ मौजूद थे। ऋग्वेदादि की प्राचीनता तो सभी स्वीकार कर चुके हैं। शक्ति यमल से अथर्ववेद की उत्पत्ति की जो चर्चा की गई है उससे जान पड़ता है कि जब आर्य लोग अनार्य जातियों के संपर्क में आए और अथर्ववेद ने जब जनसाधारण में प्रचलित पूजा-पद्धतियों तथा तंत्र-मंत्र को अपने में स्थान दिया तभीसे शाक्त-मत और तंत्र का प्रारंभ हुआ। (२५)

---

(२५) The spirit and culture of the Tantras. (Heritage of India Vol. II

'शत-संभव' तंत्र भारतवर्ष में चार संप्रदायों का जिक्र करता है—पूर्व में गौड, मध्य में केरल, पश्चिम में कश्मीर तथा विलास-संप्रदाय जो किसी खास क्षेत्र में सीमित नहीं था। तंत्र ने मनुष्यों में तीन भावों को प्रधान माना है—सत्व, वीर और पशु जो कि सात्विक, राजस और तामस भावों के ही दूसरे नाम हैं। इनके अनुसार वीर भाव वालों के लिये शक्ति तंत्र का विधान किया गया है।

श्री विंटरनित्ज बंगाल ही को तंत्र का मूल वास बतलाते हैं। यहीं से वे आसाम और नेपाल होते हुए तिब्बत और चीन तक बौद्ध धर्म के द्वारा फैले। (२६) एक संस्कृत श्लोक के अनुसार तंत्र-विद्या का उद्गम बंगाल में हुआ, विकास मिथिला में हुआ, महाराष्ट्र में भी वह कहीं-कहीं पायी जाती है, किंतु गुजरात में तो उसका नाश ही हो गया (२७) 'काली विलास तंत्र' तथा 'बरद-तंत्र' में बंगला और आसामी भाषा के मंत्र पाये जाने से भी यही पता लगता है कि उत्तर बंगाल में तंत्र शास्त्र का उद्भव हुआ। बंगाल ही में तंत्र निबंध आदि तांत्रिक साहित्य पाया जाना तो निश्चय रूप से यह सिद्ध करता है कि बंगाल से इस मत का घनिष्ट संबंध है।

कश्मीर के अभिनव गुप्त तथा दक्षिण के भास्कर राय तांत्रिक तत्वज्ञान के अच्छे पंडित हुए हैं। अतः इन देशों में भी तंत्र का प्रचार सिद्ध होता है (२८)

---

(२६) Prof. Winternitz : History of Indian Literature.

(२७) R. C. Chanda : Indo-Aryan Races p. 153.

(२८) Shakti worship and Shakta Saints of Bengal. (Cultural Heritage of India Vol. II.

तांत्रिक पद्धतियों का प्रचार हिन्दू बौद्ध और जैन सभी में पाया जाता है (२६) बौद्ध धर्म ने तंत्र का बहुत समन्वय किया। योग की शक्तियों तथा ऋद्धि-सिद्धियों का उल्लेख बुद्ध भगवान के जीवन में भी मिलता है। बुद्ध चाहे तांत्रिक क्रियाएँ जानते हों (जैसा कि तांत्रिक सिद्ध करते हैं) या नहीं किंतु इतना निश्चय है कि उनके अनुयायियों ने उनका खूब आकलन किया। बौद्ध धर्म सरीखे सन्यास-प्रधान मत से तंत्र सरीखे प्रकृति-प्रधान मत का उद्भव या संबंध जरा आश्चर्य में डालता है। अतः उसके कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

जावाल ऋषि ने केवल ब्राह्मण के लिये सभी आश्रमों से सन्यास ग्रहण करने का प्रतिपादन किया था। किंतु इससे आगे बढ़कर बुद्ध भगवान् ने वर्णाश्रमधर्म के विरुद्ध सब वर्णों तथा सब आश्रमवालों को सन्यास देना शुरू कर दिया। इसका फल यह हुआ कि सन्यास का अधिकार तो सबको मिल गया किंतु आश्रमों का क्रम-विकास न होने के कारण अपरिपक्व अवस्था ही में लोग सन्यास ग्रहण करने लगे। इसकी प्रतिक्रिया होना और असंयमित मनोवृत्ति का बांध तोड़कर निकल जाना स्वाभाविक था।

बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया

बौद्ध भिक्षुओं के नियम बहुत कड़े थे और उनके भंग होने पर कड़ा दंड दिया जाता था। बुद्ध के समय ही में बहुत से भिक्षुओं ने इन नियमों के विरुद्ध बगावत की थी जिसके फल-

(२६) Antiquity of Tantrikism (Cultural Heritage of India Vol. II p. 114).

स्वरूप वे भिक्षु-संघ से अलग भी किये गये थे(३०) बहुत से भिक्षु जो खुले तौर से इनका विरोध न कर सकते वे गुप्त रूप से उनके विरुद्ध आचरण किया करते थे। बुद्ध की मृत्यु के बाद इन भिक्षुओं ने गुप्त संघ स्थापित कर लिये। योग, मंत्र, तंत्र तथा बौद्ध पद्धतियों का सम्मिश्रण होता चला गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया ही के रूप में तांत्रिक साधना का प्रचार होना संभव जान पड़ता है।

गुह्य समाज

भिक्षुओं के ये गुप्त संघ बौद्ध मठों के पतन के साथ ही साथ बढ़ते चले गये और 'गुह्य समाजों' के नाम से विशाल संघों के रूप में परिणत हुए। ये लोग न तो भिक्षु संघों में सम्मिलित हो सकते थे और न जन-समाज में। इस लिये बौद्ध धर्म में अपने सिद्धांतों को प्रविष्ट कराने के लिये इन्होने उसी के समान संगीतियों के द्वारा अपने ग्रंथों की रचना करना शुरू कर दिया।

गुह्य समाज तंत्र

तंत्र के प्रधान ग्रंथ "गुह्य समाज तंत्र" की रचना इसी संगीति पद्धति से हुई थी। श्रीतारानाथ का मत है कि तंत्र की गुप्त साधना बौद्ध आचार्य नागार्जुन के समय से चली आई है। उनका यह भी मत है कि इसके बाद ३०० वर्ष तक तंत्र गुरु शिष्य परंपरा से चलते गए और वे सिद्धों, नाथों और योगियों की वाणियों के द्वारा प्रकाश में आए। (३१) तुलना

(३०) An introduction to Budhist Esoterism by Bhattacharya.

(३१) Introduction to Guhya Samaj Tantra (Gaekwad Oriental Series No. 53.)

करने से जान पड़ता है कि गुह्य समाज तंत्र के सिद्धांत असंग द्वारा रचित प्रज्ञापारमिता की साधना से मिलते-जुलते हैं। इस तंत्र ने 'मंजुश्री मूलकल्प' नामक ग्रन्थ का आधार लिया था जिसकी रचना इसके पहिले (तीसरी या चौथी शताब्दी में) हो चुकी थी। इस प्रकार इस तंत्र की रचना चौथी सदी के बाद की जान पड़ती है।

तंत्र के सिद्धांत

इस ग्रंथ ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि मुक्ति या निर्वाण शारीरिक कष्ट संयम या विषयों के त्याग से नहीं मिलती किंतु इच्छाओं की पूर्ति से मिलती है। हीनयान या महायान की कठोर साधनाओं के बदले इस तंत्र की इन्द्रियतृप्ति मूलक साधनाएँ जनता के लिए आकर्षक सिद्ध हुईं। इसके अतिरिक्त इस तंत्र ने बौद्ध धर्म में शक्ति का सिद्धांत सम्मिलित किया। ईश्वर पाँच ध्यानी बुद्धों के रूप में अवतीर्ण होता है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के साथ एक शक्ति होती है। प्रज्ञाभिषेक नामक संस्कार में गुरु शक्ति या विद्या स्वरूप एक स्त्री का हाथ शिष्य को अर्पण करता है। बिना इस 'विद्याव्रत' को आजन्म निबाहे कोई भी मनुष्य 'उत्तम निर्वाण' प्राप्त नहीं कर सकता।

वज्रयान

बौद्ध तंत्र चार मुख्य भागों में विभाजित किए गए हैं चर्या तंत्र, क्रिया तंत्र, योग तंत्र और, अनुत्तर योग तंत्र। इनमें पहिले दो शक्ति रहित है। अंतिम दो शक्ति सहित होने के कारण उत्तम माने गए हैं। पाँच ध्यानी बुद्धों की कल्पना बौद्ध धर्म के पांच स्कंधों (२३) के आधार पर की गई थी। इन पाँच

---

(२३) रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

स्कंधों के अधिपति बैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघ सिद्धि और अक्षोभ्य नामक पाँच ध्यानी बुद्ध हैं जो कि अपनी शक्तियों से समन्वित हैं। इसके बाद के तंत्रों में इन शक्तियों का उल्लेख मिलता है जो कि तीसरी सदी के पहिले नहीं पाया जाता था। इसी से वज्रयान आदि अनेक संप्रदाय उत्पन्न हुए। ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों से बोधिसत्वों और बुद्ध-शक्तियों के परिवारों का उदय होता है।

पाँचो ध्यानी बुद्ध एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस शक्ति को शून्य या वज्र भी कहा गया है जिससे कि वज्रयान संप्रदाय का नाम चलाया गया। यह शून्य-शक्ति तीन प्रकार से प्रकट होती है। उसी कारण इसे 'काय वाक् चित्त वज्राधार' भी कहते हैं। शून्य से तीन तत्व—काय वाक् और चित्त उत्पन्न होते हैं और उनसे पाँच स्कंध अथवा पाँच बुद्धों की उत्पत्ति होती है। इस तत्व ज्ञान में सांख्य के त्रिगुण और पंच तन्मात्राओं का समन्वय जान पड़ता है।

बौद्धों के संयम नियम के विरुद्ध इसने 'पंच मकार' के स्वच्छंदतापूर्वक सेवन करने का विधान किया। इतना ही नहीं, किंतु पशुओं के रक्त और मनुष्य के मांस तक की स्वीकृति दी। बौद्धों के चैत्यों तथा त्रिरत्नों का कोई आदर उन्हें नहीं था। सब सामाजिक बंधनों को तोड़ना ही उनका उद्देश्य था। इससे जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध कितने विद्रोह का भाव उठ खड़ा हुआ था। तंत्र की शिक्षाएं धर्म के प्रतिकूल होने के कारण बुद्ध के भक्तों में उसके प्रति घृणा के भाव भी पैदा हो गए थे। किंतु उनकी संख्या कम होती गई और वज्रयान का प्रचार बढ़ता गया।

इस प्रकार वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म मे आदान-प्रदान चलता गया और एक-दूसरे के देवी-देवताओं, तंत्र-मंत्रों और

साधनाओं का समन्वय होता गया। वज्रयान ने केवल योग की क्रियाओं को ही संमिलित नहीं किया किंतु मंत्रों की नियमित पद्धति भी प्रचलित की। उनके समय में कला तथा विद्या की भी काफ़ी उन्नति हुई।

नाथपंथ

नाथपंथ ने भी वज्रयान से प्रेरणा ग्रहण कर बौद्ध तंत्रोंको हिन्दू रूप प्रदान किया। बौद्धों के चौरासी सिद्धों में नवनाथों की भी गणना की जाती है। इसी कारण शायद पहले हिन्दू समाज में वे योगी समाज से बाहर समझे जाते थे। सबसे पहिले उन्होंने तांत्रिक क्रियाओं को हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराया। नाथपंथियों ने तांत्रिकों से प्रेरणा तो अवश्य ग्रहण की किंतु यौगिक क्रियाओं में उनका तांत्रिकों से भेद था। उन्होंने हठयोग की कई नवीन पद्धतियों का प्रचार किया। 'गोरक्ष संहिता', 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'शिव-संहिता' में इनके सिद्धांत निहित हैं।

यद्यपि तीसरी सदी में वज्रयान का प्रारंभ हो चुका था किंतु उसका प्रकट रूप से प्रचार सातवीं सदी के मध्य में सिद्धों और नाथों की वाणियों के द्वारा हुआ। वज्रयान का प्रचार नेपाल, तिब्बत और चीन में अधिक बढ़ा जहाँ कि उसके हजारों ग्रंथ पाए गए हैं। आगे चल कर उससे अनेक यान निकले, जैसे सहजयान, कालचक्रयान और मंत्रयान।

सहजयान

लक्ष्मींकरा देवी (सन् ७२६ ई०) इस पंथ की प्रवर्तिका मानी जाती है। इनके अनुसार मुक्ति के लिये व्रत-उपवास, यम-नियम तथा स्नान-ध्यान आदि उपचारों की आवश्यकता नहीं है

और न समाज के नियमों के पालन की जरूरत है। मूर्ति-पूजा के बदले आत्मपूजा का इसमें विधान है।

कालचक्रयान

कालचक्रयान में योग तंत्र और सहजयान के सिद्धांतों का समन्वय किया गया। इसका उद्भव दसवीं सदी में माना जाता है। तंत्र के अनुसार कालचक्र, शून्यता, करुणा और प्रज्ञा का देवता है। वह आदि बुद्ध है और ध्यानी बुद्धों का जन्मदाता है। घर (स्वदेह) ही में सारा संसार मौजूद है। यह पिंड और ब्रह्मांड का सिद्धांत सहजयान नाथ पंथ और वज्रयान में समान रूप से पाया जाता है। कालचक्रयान में भी उसी को ग्रहण कर समन्वय की परंपरा को आगे बढ़ाया। इसका प्रधान देवता काल रूपी सनातन चक्र का द्योतक है और इसी कारण भयानक है। वह शक्ति से युक्त होकर शक्तिशाली हो जाता है।

मंत्रयान

मंत्रयान में मंत्रों और यंत्रों का ही विवरण है। इसमें ठीक विधि से मंत्रों के उच्चारण तथा ठीक तंत्र में स्थापित होने ही से ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती हैं। मंत्रों का महत्व वैदिक और बौद्ध दोनों धर्मों में माना गया है। 'मंजुश्री मूल कल्प' तथा 'गुह्य समाज तंत्र' में मंत्रों की भरमार है। मंत्रयान में इन मंत्रों का नियम बद्ध कर दिया गया है। इसका उद्भव नागार्जुन (दूसरी सदी) ही से माना जाता है।

सिद्ध

नाथ-सिद्ध दूसरी सदी में आदिनाथ मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ से अपना प्रवर्तन मानते हैं। वे रसों और यौगिक क्रियाओं के द्वारा मानव शरीर को अजर अमर बना कर

अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। 'वीर माहेश्वर' नामक ग्रंथ में गोरखनाथ को बारवीं सदी तक दक्षिण में तुंगभद्रा के तट पर विचरण करते हुए बतलाया गया है। वहाँ वे शुद्ध मार्ग के अनुयायी महेश्वर सिद्ध के संपर्क में आते हैं।

श्री हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गए थे।

नव सिद्धों में से प्रत्येक सिद्ध एक कोटि सिद्धों का अधिपति है। किसी-किसी की सम्मति में ये नौ कोटि सिद्ध नवनाथ सिद्धों से बिलकुल अलग हैं और नौ अलग-अलग संप्रदायों के मुखिया हैं। एक तीसरे मत के अनुसार ये सिद्ध चीनी 'ताओ' मतानुयायी भोगा के शिष्य हैं जिसने शरीर को अमर करने की विद्या का प्रचार किया था। कहा जाता है कि इसी भोगा ने दक्षिण में शैवागमी और शाक्तागमी मतानुयायियों को शुद्ध मार्ग की शिक्षा दी। ये दोनों मत शुद्ध मार्ग के दो संप्रदाय जान पड़ते हैं। दक्षिण के अष्टादश सिद्धों में शुद्ध मार्ग के १८ माहेश्वर सिद्धों अथवा ज्ञान सिद्धों की गणना की जाती है। तामिल के 'तायु मानवर' कवि ने अपने ग्रंथ में ज्ञान सिद्धों की प्रशंसा तथा उनकी परंपरा का वर्णन किया है। उसके अनुसार भोगा के सात शिष्यों ने सिद्धों के सात संप्रदायों का प्रचार किया। 'काल-दहन-तंत्र' तथा 'मृत्यु-नाशक तंत्र' में शुद्ध मार्ग के संप्रदायों की चर्चा मिलती है। शैवागमों में भी हमें शुद्ध मार्ग का वर्णन मिलता है।

---

(३९) हिंदी साहित्य की भूमिका योग मार्ग और सम्प्रदाय पृ० ६१

सप्तम अध्याय

राम और कृष्ण की परंपरा

अवतारों की गणना तीन प्रकार से मानी गई है—पूर्ण अंश और आवेश। भागवत ने केवल कृष्ण ही को पूर्णावतार मान कर शेष अवतारों को उनके अंश मात्र माना है। (१)

कुछ लोग परशुराम को आवेशावतार मानते हैं। क्योंकि राम के द्वारा वैष्णव धनुष चढ़ाने के बाद उनका प्रभाव राम में समा गया था। शंकर ने ब्रह्मा, विष्णु और शंकर को एक पद मात्र माना है। जिन पर मुक्तात्माएँ आरूढ़ होकर एक कल्प का कार्य संचालन करती हैं। (२)

---

(१) एतेचांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (भाग०)

(२) वेदान्त सूत्र ४ सूत्र १७

चाहे लोकाधिपति विष्णु या विष्णु पद पर आरूढ़ मुक्तात्माएँ ही अवतार धारण करती हों, दोनों का तत्व एक ही है कि करुणा से प्रेरित होकर संसार के हित और उत्थान के लिए अवतार प्रगट होते हैं । (३) कुछ लोग निर्गुण ब्रह्म के लिए शरीर धारण करना असंगत समझते हैं। किंतु यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि यह विश्व भी उसका व्यक्त रूप है (४) तथा जीव उसका अंश है (५) वेदान्त जीव और ब्रह्म में कोई अंतर नहीं मानता । (६) तब अपने को स्वयं ब्रह्म मानना या किसी जीव में विशेष विभूति श्री या ऐश्वर्य देख कर उसे ईश्वर अंश समझ लेना कोई अनुचित नहीं जान पड़ता ।(७)

पशु-पंछी, मनुष्य सभी को ईश्वरावतार मानने की पौराणिक भावना ईश्वर के इसी सर्वव्यापित्व को स्वीकार करती है(८) तथा किसी भी प्राणी में तेज बल या ऐश्वर्य देख कर उसे ईश्वर मानने में नहीं हिचकिचाता । फिर मनुष्य जो कि सब प्राणियों में श्रेष्ठ है उसका ईश्वर तक पहुँचाना या उसे ईश्वर का आवेश अंश या पूर्णावतार मानना कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

---

(३) हिताय लोकस्य भवाय भूतये । (भाग०)

(४) विश्वेश्वनु कम्पितात्मा (विष्णु)

(५) ममैवांशो जीवलोके जीव भूतस्सनातनः (गीता)

(६) जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

(७) यद्यत् विभूतिमत् सत्वं श्री मदूर्जित मेव वा । (गीता)

(८) मत्स्याश्व कच्छपनृसिंहवराहहंस
राजन्य नाथ विबुधेषु कृतावतारः ।—भाग०

बहुत से लोग अवतारवाद में वैज्ञानिक विकासवाद ही का समर्थन देखते हैं। पहले (मत्स्यादि) जल जन्तु फिर जल-थल दोनों में रहने वाले (कच्छपादि) फिर केवल स्थलचारी (बाराहादि) फिर अर्ध पशु (नृसिंह) फिर मनुष्य का छोटा रूप (वामन) फिर हिंसात्मक क्षत्रियत्व (परशुराम) और बाद में मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होता है और हमें राम-कृष्ण और बुद्ध के मानवाअवतारों के दर्शन होते हैं। सृष्टि, और ज्योतिष तथा भौगोलिक इन तीनों रूपकों में अवतारों के अर्थ लगाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त शारीरिक मानसिक और अध्यात्मिक अर्थों में भी दशावतार घटाए गए हैं। (९)

मनुष्यों के लिए मानवावतार ही अधिक आकर्षक हुए और उन्हीं की उपासना के आधार पर भिन्न भिन्न संप्रदायों की सृष्टि हुई अतः उनकी विवेचना करना आवश्यक है।

अवतारों में श्रीकृष्ण जी की पूजा सबसे प्राचीन मानी गई है। (१०) जैकोबी ने प्रतिपादन किया है कि पहले इनकी पूजा एक जातीय वीर पुरुष के रूप में होती थी। उसके बाद वैदिक काल के अंत में कृष्ण आभीरों के एक जातीय देवता के रूप में पूजे जाने लगे। गोपाल कृष्ण तथा वासुदेव कृष्ण जो पहले अलग-अलग थे अब एक ही व्यक्तित्व में केन्द्रित होकर पंचरात्र धर्म के प्रधान आराध्यदेव बन गए। महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में (ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी) कृष्ण और अर्जुन का उल्लेख मिलता है। (५-३-९५) एक वीर क्षत्रिय के रूप में

(९) Puranas in the Light of Modern Science, pp. 209-13.

(१०)Bhandarkar :Indian Antiquary. (1874)

नहीं वरन दैवीशक्ति सम्पन्न व्यक्ति के रूप में पतंजलि ने कृष्ण का उल्लेख किया है। (म० ४-३-६८)

बूलर साहब के मतानुसार जैन धर्म के बहुत पहले ही (ई० पूर्व आठवीं शताब्दी) में इस धर्म का उदय हो चुका था] तैत्तिरीय अरण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में (छठवीं सदी ई० पूर्व) कृष्ण का उल्लेख हो चुका है। (१०)

चौथी सदी में इन्हीं का मेगस्थानीज ने (Heraclese) हरि कृष्ण के नाम से उल्लेख किया है। ये शूरसेन देश में पूजित थे जहाँ कि मथुरा (Methora) नगरी बसी है और जहां से यमुना नदी (Gaboras) बहती है (११) भंडारकर ने अच्छी तरह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण से सात्वत जाति का संबध होने के कारण ही इस धर्म का नाम सात्वत धर्म पड़ा। (१२)

आगे चल कर सात्वत तथा भागवत धर्म समानार्थक हो गए। सात्वत यादव कुलोत्पन्न श्री कृष्ण भागवत धर्म के प्रवर्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं। भगवान् के भक्त ही भागवत कहलाए। ई० पूर्व १४० सन् में तक्षशिला में ग्रीक राजा अन्तियल्किदास (Antialkidas) का प्रतिनिधि हिलियोडोरस और भागभद्र तथा विदिशा के राजा अपने नाम के सामने 'भागवत' उपाधि का प्रयोग करते थे। इसके द्वारा भगवान् वासुदेव के मंदिर तथा गरुड़ध्वज स्थापित करने

(तद्धैतद्घोर आङ्गिरसो कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव सम्बभूव (छां० पू० ३ प्र० १७ खं ६)

(११) MacCrindle p. 201.

(१२) पतिर्गति श्चांधक वृष्णि सात्वताम् (भागवत १-१-२)

का उल्लेख उस समय के वेस नगर के लेखों में मिलता है(१३) तीसरी शताब्दी में गंगा तट पर प्राप्त शिलालेखों में भागवत राजाओं क उल्लेख मिलता है।

तीसरी से पाँचवीं शताब्दि तक गुप्त सम्राट् भागवत धर्म के उपासक थे। इन्हीं के समय में भागवत तथा विष्णु पुराण आदि की रचना मानी जाती है। अपनी मुद्राओं और ताम्रपत्रों में वे अपने नाम के सामने 'परम भागवत' उपाधि बड़े गर्व के साथ लिखते थे। नानाघाट के लेख में संकर्षण को प्रणाम किया गया है। मालव, मगध, कन्नौज, गौड़, तथा गुर्जर में इस धर्म का विशेष प्रचार हुआ। गुप्तों के समान दक्षिण में वाकाटक, शरभ, इक्ष्वाकु तथा विष्णुकुंडि वंश के राज्य भी इसके उपासक थे। पल्लवों के समय शैव धर्म के साथ भागवत धर्म को भी बराबरी का स्थान दिया गया। राजपूतों ने उत्तर से लेकर दक्षिण तक इसी पौराणिक धर्म का प्रचार किया। भगवद्गीता के समय श्रीकृष्ण वासुदेव 'परम पुरुष' बन चुके थे किंतु 'नारायण' से एक रूप नहीं हुए थे। घोसुंडो मे मिले हुए शिलालेखों में वासुदेव और संकर्षण के लिये 'पूजा शिला' और 'नारायण वाटिका' निर्माण करने का उल्लेख है। (१४) जिससे प्रगट होता है कि उस समय पंचरात्र पद्धति स्थापित हो चुकी थी जिसमें वासुदेव के चतुर्व्यूहों की पूजा प्रचलित थी। अब भागवत धर्म 'पंचरात्र' के नाम से पुकारा जाने लगा था। पुरुष द्वारा पाँच

(१३) देव देवस वासुदेवस गरूडध्वजो कारितो हिलिओडोरेन भागवतेन दियसपुत्रेण तखसीलकेन
Epigraphica Indica Vol. X

(१४) Journal of the Royal Asiatic Society 1877, Part I pp. 78.

रात्रियों तक यज्ञ किए जाने के आधार पर ही 'पंचरात्र' शब्द की उत्पत्ति हुई होगी। बाद में जब 'पुरुष' और 'विष्णु' एक हो गए तब श्रीकृष्ण वासुदेव और नारायण से एकरूप होकर पंचरात्र या भागवत धर्म के प्रधान आराध्य देव बन गए। एटकिंसन तो वासुदेव और पुरुषोत्तम को पहाड़ी देवता मानते हैं जोकि आर्यों की समन्वय बुद्धि के कारण नारायण से एक रूप कर दिए गए। (१५) जैकोबी जैन धर्म पर भी श्रीकृष्ण पूजा का काफी प्रभाव मानते हैं। वे तो यहां तक कहते हैं कि इसी के आदर्श पर जैन तीर्थंकरों (Hagiology) का निर्माण हुआ। जैन शास्त्रों का संकलन छठवीं शताब्दी ई० पू० में मानकर वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उस समय भी कृष्ण पूजा काफी प्रचलित हो चुकी थी। (१६) इसी प्रकार बूलर (१७) सेनार्ट, (१८) पौसिन (१९) तथा मेकनिकल (२०) आदि लेखक बौद्ध धर्म पर भी कृष्ण पूजा का प्रभाव मानते हैं।

ब्रह्मत्व और मानवत्व

कृष्णोपासना के बाद रामोपासना सबसे अधिक प्रचलित हुई। दशावतारों में कृष्ण के साथ राम का महत्व भी जनता के हृदय में स्थापित हुआ। वाल्मीकि रामायण ने उनके मानवी गुणों को भारत के सामने रखकर उनके चरित्र को जनता के हृदय में रमा दिया था। पुराणों ने उन्हें अवतार मान लिया

(१५) Atkinson: Himalayan Gazetteer pp. 752.
(१६) E. R. E. VII pp. 198.
(१७) Buhler and Burgess: The Jains.
(१८) Senart: Originies Liandhiques.
(१९) Penson: Opinions pp. 63.
(२०) Macnicol: Indian Thiesm pp. 63.

किंतु अध्यात्म रामायण आदि ने उन्हें पूर्ण परब्रह्म के आसन पर आसीन कर उनका महत्व और भी अधिक बढ़ा दिया। जिस प्रकार भागवत में वेदान्त के तत्वज्ञान को आधार मानकर कृष्ण को उसका केन्द्र बनाया उसी प्रकार इन रामायणों ने राम को वेदांत के ब्रह्म का स्वरूप दिया। इसी का अनुकरण आगे के कवियो ने किया।

जनता के आदर्श के लिये एक मानव आदर्श की आवश्यकता थी इसलिए आगे चलकर ब्रह्मत्व की अपेक्षा उनके मानवत्व की ओर लोगों का अधिक आकर्षण हुआ। कहा जा चुका है कि कुछ आचार्यों ने बालकृष्ण, कुछ ने किशोर और अन्यों ने युवा कृष्ण की उपासना पर जोर दिया। राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और गार्हस्थ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन-उन गुणों की योजना इन चरित्रों में होने लगी। महाभारत के राजनीतिज्ञ कृष्ण, गीता में एक धर्म-प्रवर्त्तक के रूप में हमारे सामने आए। भागवत में उनका सामाजिक और गार्हस्थ रूप हमारे सामने आता है। उनके युवारूप के साथ पहले पहल ब्रह्मवैवर्त्त पुराण मे राधा की योजना की गई। भागवत में उनका शृंगारिक रूप प्रगट हुआ जो कि गीत गोविन्द और विद्यापति की पदावली में अपनी पूर्णता पर पहुँचा। धीरे-धीरे उनका दुष्ट-दमनकारी राजनीतिक और गीता-गायक धर्म-प्रवर्तक रूप लुप्त होकर भक्ति का आलंबन तथा शृंगारिक रूप ही सामने रह गया। वल्लभाचार्य तथा पुष्टिमार्ग के आचार्यों ने इस रूप की और भी पुष्टि की और अष्टछाप के कवियों ने इस पर रसिकता की पूरी छाप लगा दी। श्रीकृष्ण परमात्मा ब्रह्मरूप से गिर कर प्रेमी-रूप धारण कर लेते हैं और शंख-चक्रधर के स्थान पर मुरलीधर बन जाते हैं।

रामकथा की परंपरा

रामकथा की ऐतिहासिकता के विषय में बहुत लोगों को संदेह है। उसके समर्थन में उनका कहना इस प्रकार है कि रामकथा हमारे यहाँ की ऐतिहासिक कथा नहीं है; वह काव्य है। रामकथा वाल्मीकि कवि की ही कृति है। उन्होंने यह कथा किसी प्राचीन पौराणिक कथा से नहीं ली। पौराणिक कथाएँ दो प्रकार की थीं ऐतिहासिक और रूपक कथाएँ। इन्द्र और वृत्र का युद्ध ऐतिहासिक कथा नहीं; वह काल्पनिक थी। उसका आधार वही है जो तैमात और मर्डूक की कथा का है। तैमात स्त्री देवता थी। उसका पति अप्सु था। जब वह कथा आर्यों की पौराणिक कथा के रूप में परिणित हुई तब मर्डूक को पुरुष रूप इन्द्र दे दिया गया और तैमात को वृत्त का नाम दे दिया गया। तैमात और मर्डूक की कथा बेबीलोन की प्राचीन कथाओं में मिलती है। तैमात को पुरुष रूप उसी समय दिया गया जब द्रविड़ लोगों के स्त्री देवताओं को पुरुष रूप दिया गया। द्राविड़ी सभ्यता में स्त्रियों की प्रधानता है और उनकी वंश-परंपरा माता से चलती है। इसी कारण द्राविड़ी और बेबीलोन की सभ्यता के इतिहास में स्त्री देवताओं की प्रधानता थी। जान पड़ता है दुर्गा के रूप में तैमात की कुछ कथा आ गई है। इसी प्रकार मत्स्य अवतार और महाप्रलय की कथा भारतवर्ष और बेबीलोन में समान है। ये दोनों कथायें अवैदिक है।

जिन पौराणिक कथाओं का उल्लेख वेदों में नहीं हैं वे घटनाएँ या तो वेद-काल के बाद की हैं या काल्पनिक हैं। महाभारत के कुछ पुरुषों का नाम वेदों में आया है। देवापि का नाम ऋग्वेद में है।(२१) देवापि और वालाकि महाभारत

(२१) ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त ९८

के इतिहास में आये हैं। ऋग्वेद में देवकी पुत्र कृष्ण का नाम नहीं है इससे यह अनुमान होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण वेदों के आधुनिक रूप में आ जाने के बाद के हैं। छांदोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र कृष्ण के आत्मज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रमाण से इस बात में संशय नहीं रह जाता कि श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष थे।

आजकल की कथाओं में रामकथा, श्रीकृष्ण कथा से अधिक महत्व की है। गीता का आधुनिक रूप विक्रम संवत् के तीन सौ वर्ष पहिले हुआ। उस समय भी राम महापुरुष माने जाने लगे थे। ऋग्वेद में बहुत सी वैदिक कथाएँ हैं परन्तु रामकथा नहीं। उससे दो अनुमान हो सकते हैं। पहिला तो यह कि रामकथा भी वैदिक नहीं हैं। दूसरा यह कि रामकथा भी तैमात और मडूक कथा के समान द्राविड़ी या सेमिटिक है। रामकथा द्राविड़ी या सेमिटिक नहीं हो सकती क्योंकि सेमिटिक ग्रंथों में इस प्रकार की कथा नहीं थी। रामकथा का एक विकृत रूप नैपाली प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। इससे यह अनुमान होता हैं कि रामकथा का आरंभ भारतवर्ष में ही हुआ। रामकथा कृष्ण-जन्म से पहिले की बताई जाती हैं। कृष्ण काल के समकालीन ग्रंथों में या छांदोग्य उपनिषद् आदि में उसका उल्लेख नहीं हैं उस समय के पहले के ग्रंथों अर्थात् वेदों में भी उसका उल्लेख नहीं है।

सीता का उल्लेख ऋग्वेद की नीचे लिखी ऋचा में हुआ है :—

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषा नु यच्छतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समां ॥ (२२)

ऊपर के मंत्र में 'तां पूषा नु यच्छतु' के दो अर्थ है। एक तो

(२२) ऋग्वेद अ० ३ अनु ८ में ४ सू० ४८

यह कि पूषन् सीता को ठीक मार्ग से बहावें। दूसरा यह कि पूषन् सीता को ले जावें। इस मंत्र में और इसके पहले के मंत्र में इन्द्र और सीता के मेल से जनता को समृद्धि होगी यह वर्णन है।

इस मंत्र में राम शब्द नहीं आया। केवल इन्द्र और पूषन् शब्द आए हैं। नीचे दिए प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इन्द्र का नाम ही राम था। ऋग्वेद में और कई जगह यह नाम आया है। (२३)

अगस्त्य ऋषि रामचन्द्र के समकालीन कहे जाते हैं। ऋग्वेद के पहले मंडल के १६६ वें सूक्त के ऋषि अगस्त्य ही हैं। ऋषि अगस्त्य का नाम आने पर भी रामकथा का हाल वेद में नहीं। ऋषि अगस्त्य मरुतों के उपासक थे। उनके सूक्त के देवता मरुत ही हैं। गृह्यसूत्रों में कथाएं नहीं हैं किंतु कहीं-कहीं राम और सीता का उल्लेख है। उसमें सीता हल से बनी हुई नालियों का नाम है और राम पानी बरसाने वाले इन्द्र देवता का नाम है। सीता इन्द्र की भार्या है। (२४)

वैदिक और उपनिषद् काल में सबसे बड़े देवता इन्द्र थे। पौराणिक काल में विष्णु और फिर राम या कृष्ण ने उनका स्थान ले लिया। इन्द्र को विष्णु से छोटा बनना पड़ा। बहुत लोगों की दृष्टि में रामायण केवल रूपक मात्र है। आत्मा और शरीर की कुवृत्तियों में जो युद्ध होता है वही युद्ध रामरावण युद्ध बन गया। रावण दश कुवृत्तियों का केन्द्र है। ये दश कुवृत्तियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दंभ, अहंकार, राग, और द्वेष है। सीता-मन है जो आत्मा के अनुसार चल कर शांति पा सकता है। यदि कुवृत्तियाँ उसे खींच ले जावें तो मन

---

(२३) ऋग्वेद मं० १ सू० १० मं० २ तथा मं० १ सू० ५१

(२४) पारस्कर्य गृह्यसूत्र (११-१७ ३)

कष्ट पाता है। आत्मा को सत्संग और ध्यान की आवश्यकता है। इसीलिए किसी विद्वान् के मतानुसार हनुमान सत्सग है और किसी के मत से हनुमान ध्यान है। ध्यान के लिये हनु की ओर दृष्टि रखनी पड़ती है इसलिए वे तांत्रिक जो रामकथा को सँस्थान विज्ञान देते हैं हनुमान को ध्यान कहते हैं।

तंत्र शास्त्र के मतानुसार रावण जो कैकसी का पुत्र है वह मूलाधार चक्र है जिसे कुण्डलिनी वेध करके ब्रह्मरंध्र की ओर चलती है। वह चक्र शरीर की रीढ़ की हड्डी का सब से नीचे के भाग में है। उस हड्डी को Coceyx कहते हैं और रावण की माता (कैकसी) के नाम में और Coceyse की ध्वनि की समानता भी आश्चर्यजनक है। तांत्रिक अपने मत की पुष्टि वालि, अंगद, सुग्रीव, आदि नामों से करते हैं जो शरीर के भिन्न भाग हैं और जो तांत्रिकों की साधना में काम आते हैं। इस प्रकार की शाब्दिक समानता निरर्थक है।

जो कथा वेदों में न हो उसे अनैतिहासिक मानना ठीक नहीं। वंशों का इतिहास लिखना इतिहास पुराण का काम है जिससे वह पंचम वेद भी कहा गया है। महाभारत, जो कि हमारा मुख्य ऐतिहासिक ग्रंथ है, उसमें रामकथा मौजूद है। पुराणों में भी भागवत, विष्णु पुराण आदि में उसका वर्णन है। यह बात अवश्य है कि इतिहास के साथ कल्पित कथाएँ भी मिलती चली गई जिनमे उसका रूप विस्तृत और विकृत होता चला गया। राम कथा हमारी संस्कृति और धर्म में विशेष स्थान रखती है। उसे रूपक सिद्ध करना मानो हमारी संस्कृति तथा धर्म के मूल आधार ही को उड़ा देना है। सबसे पहले बाल्मीकि ने उसे शुद्ध रूप में वर्णन किया। यद्यपि उसके आरम्भिक और अंतिम अंशों को कुछ लोग प्रक्षिप्त मानते हैं।

किंतु उसका प्रधान अंश बहुत प्राचीन है। उसकी रचना ईसवी सन् से चार सौ वर्ष पूर्व मानी जाती है। उसके आधार पर पुराणों में राम को ईश्वर का अवतार मानकर उसमें उसी की समर्थक कथाएं भी मिलाई गईं। उनमें पाठ भेद भी बहुत हुआ जिसका निदर्शन गोसाईं जी के मानस में भी मिलता है :—

कलप भेद हरि चरित सोहाये।
भांति अनेक मुनीसन गाए॥

गोसाईं जी ने इस भेद का समाधान "हरि अनंत हरि कथा अनंता" तथा "नाना भांति राम अवतारा" आदि से करने का प्रयत्न किया है।

जहाँ तक पुराणों में आए हुए राजाओं की वंशावलिओं का संबंध है उनकी ऐतिहासिकता के संबंध में पार्जिटर और काशीप्रसाद जायसवाल ने खोज की है। उनसे जान पड़ता है कि सूर्यवंश के वैवस्वत् मनु से लगा कर श्री रामचंद्र तक ६३ पीढ़ियां होती हैं। किंतु कुछ लोगों का कहना है कि इस वंशावली में केवल सूर्यवंश ही के नहीं अपितु अन्य चार वंशों के नाम भी शामिल कर दिए गए हैं। इस प्रकार उनकी समझ में इस वंशावली में बारह नाम बढ़े हुए हैं। इस अंतर के कारण कुल राजाओं का समय भी बदल जाता है। यहाँ तक कि कुछ लोगों की सम्मति में राम, सुदास, और हरिश्चंद्र समसामयिक हो जाते हैं।(२५)

दक्षिण में रामकथा

तामिल साहित्य में रामचरित्र की रचनाओं का उल्लेख बहुत पहिले से पाया जाता है। मदुरा के कुदुवान मल्लनर

(२५) मिश्रबंधु :—परम प्राचीन भारतीय इतिहास का रूप (सुधा) वर्ष १४ खंड १ संख्या १

कवि ने समुद्र तट पर राम की सभा का उल्लेख किया है। कवि उन्कोदी कोदयर ने रावण द्वारा सीता हरण का उल्लेख किया है। एक दूसरे ग्रंथ शिलप्पाधिगारम् में राम के वन-गमन, सीता हरण पर राम विलाप, राम-लक्ष्मण के बनवास तथा लंका विजय का उल्लेख मिलता है। मणिमेखलई नामक पुस्तक में राम के सेतुबंध का उल्लेख है। इन से प्रगट होता है कि इन ग्रंथों के रचयिता रामायण की कथा से परिचित थे।

किंतु प्रश्न यह है कि रामायण का प्रचार दक्षिण में कैसे हुआ ? अनुमान किया जाता है कि जैनों का दक्षिण में रामायण प्रचार करने में विशेष हाथ था। उत्तर भारत में, जहाँ कि जैन और बौद्धधर्म का उदय हुआ था, वहां रामायण का पहले ही से प्रचार था। इसलिये उन पर परंपरा से रामायण का प्रभाव होना स्वाभाविक ही था। प्राकृत का सबसे प्राचीन काव्य 'पद्म चरित' विमल सूरि ने ईसा की तीसरी सदी में रचा था। इस काव्य के पात्र रामायण ही के पात्रों के समान हैं। बौद्ध और जैन दोनों धर्मों में रामकथा मौजूद है, यद्यपि वह प्राचीन रामायणों से कुछ भिन्न है। बौद्धों के दशरथ-जातक में रावण का उल्लेख ही नहीं है। जैनों की पम्पा-रामायण अभिनव पंपा नामक कवि ने रची थी जो कि विष्णु वर्धन नामक राजा (११४१इस्वी) के दरबारी कवि थे। पहिले इनका जैन नाम बिट्ठि देव था। किंतु रामानुज के प्रभाव से वे वैष्णव हो गए, और उन्होंने विष्णु के अनेक मंदिर बनवाए। पंपा रामायण का दूसरा नाम 'रामचंद्र चरित्र पुराण' है जो कि जैन ढाँचे में ढला हुआ है। कन्नड़ भाषा में कुमुदेन्दु रामायण एक दूसरी जैन रामायण है जो कि १२७५ई० में रचित मानी जाती है। इनके अतिरिक्त चामुंड राय (६६८ ई०) पुराण, नयसेन रचित 'धर्मामृत' (१११२ ई०) और नागार्जुन लिखित 'पुण्याश्रव'

(१३३१ई०) में भी रामकथा संक्षिप्त रूप से पाई जाती है। मलयलम् भाषा में इसी काव्य का दूसरा रूप पाया जाता है जोकि १३वीं सदी में रचित माना जाता है। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि दक्षिण में प्राचीन परंपरा से राम कथा प्रचलित थी। और इसका श्रेय जैन तथा बौद्ध प्रचारकों ही को दिया जा सकता है।

अष्टम अध्याय

सन्तों की साधना

पंचरात्र, भक्तिसूत्र तथा शांडिल्य सूत्र में उसी एकान्तिक भक्ति की चर्चा मिलती है जिसकी व्याख्या "ईश्वर में परम अनुरक्ति" की गई है और जो कि परम प्रेम रूप है। (१) शंकर के अद्वैतवाद ने भी इस मार्ग पर प्रभाव डाला और अन्त में उसी मे लीन हो गया। उसी प्रभाव के कारण भागवत आदि ग्रंथों में अद्वैतवाद तथा सन्यास मार्ग का प्रतिपादन मिलता है। बारहवीं सदी में मुकुन्दराज ने "विवेक-सिंधु" नामक ग्रंथ लिखा जिसमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानदेव (१२९० ई०) ने अपनी "ज्ञानेश्वरी" में भी उसी का

---

(१) भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे। साहि परमप्रेमरूपा।

प्रतिपादन किया। किन्तु सिद्धांत रूप से अद्वैतवाद का समर्थन होने पर भी इस मार्ग में उसका पूरा समर्थन न हो सका क्योंकि बिना द्वैत के, सेवक-सेव्य भाव के, भक्ति होना कठिन है।

श्रीरामानंद (सन् १२६६ सन् १४१० ई०)

रामानंद को 'मध्य युग की स्वाधीन चिन्ता का गुरु' कहा गया है।

रामानंद ने विष्णु के स्थान पर उनके अवतार श्री राम की मूर्ति स्थापित की। वे क्षीरसागर वासी न रह कर साकेत वासी हो गए और शेष शैय्या से उठकर लोगों के घरों में खेलने लगे। देश के इतिहास व परिस्थिति का प्रभाव भी धार्मिक प्रवृत्तियों और साहित्य पर पड़ा करता है। वह समय ऐसा था जब कि लोगों का चित्त केवल कृष्ण की बाल लीलाओं से रंजित न हो सका। विदेशियों व विधर्मियों के आक्रमण के समय भगवान् के लोक-रंजक और लोक-रक्षक रूप की आवश्यकता थी। दूसरे, अभी तक के आचार्य केवल संस्कृत ही में ग्रंथ रचना करते थे जिसकी पहुँच साधारण जनता तक न हो सकती थी। तीसरे, इन पंथों में केवल द्विजातियों ही को भक्ति का अधिकार था। निम्न श्रेणी के लोगों को उनसे उतना लाभ नहीं पहुँच पाया था।

इन्हीं तीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रामानंद स्वामी ने श्रीराम के लोकरंजक लोकोद्धारक तथा लोकपावन रूप की प्रतिष्ठा की जिससे जनता में नवीन उत्साह तथा नव जीवन का संचार हुआ। लोक भाषा में ग्रंथ रचना का आरंभ हुआ जिससे भक्ति का संदेश साधारण जनता तक पहुँच सका। जाति पाँति का भेद भाव मिटाकर सभी को इस परम उदार भक्ति पंथ पर चलने का समान अधिकार प्रदान कर दिया गया।

उत्तर में रामानंद का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। उनके अद्वैतवादी गुरु ने उन्हें राघवानंद नामक विशिष्टाद्वैती आचार्य को अर्पण कर दिया था। इससे प्रगट होता है कि ये दोनो मत किस प्रकार विद्वेष भूल कर साथ साथ चलते जा रहे थे। रामानंद में कई विशेषता थीं। उन्होंने वैष्णव भक्तितत्त्व को शंकर के अद्वैतवाद से समन्वय करने का प्रयत्न किया। इसके साथ साथ रामानंद ने गोरखनाथ द्वारा प्रचारित यौगिक-क्रियाओं को भी वैष्णव धर्म में सम्मिलित कर ज्ञान, योग और भक्ति की त्रिवेणी बहाकर इन मार्गों के समन्वय को दृढ़ किया। नाभा जी के कथन "रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु भवतरण कियो" की सत्यता इस बात से प्रगट होती है कि उन्होंने उक्त तीन मार्गों को समन्वित करने में सचमुच सेतु का काम किया।

कुछ लोगों का कहना है कि रामानंद के सिद्धांत निर्माण में ईसाई मत का भी हाथ था। डा० ग्रियर्सन ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दक्षिण में रामानंद ने "ईसाई प्रभाव के कूप से नवीन रूप से तृप्ति प्राप्त की" किन्तु डा० कीथ और मि० बार्थ ने इसका विरोध करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि भक्ति का स्वतंत्र विकास भारत भूमि में हुआ।" (१)

हम देख चुके हैं कि संस्कृत साहित्य में किस प्रकार ब्रह्म-वाद और उसके आधार पर ब्रह्मात्मैक्य की भावना विकसित हुई। जीव ब्रह्म की एकता की स्वाभाविक परिणति सब जीवों की एकता और समता में होती है। मनुष्य मात्र की एकता उसके अन्तर्गत आ ही जाती है। तत्व-ज्ञानी कुत्ता चांडाल

---

(१) Journal of the Royal Asiatic Society 1907

और ब्राह्मण में एक ही ईश्वर का रूप समान भाव से देखने लगते हैं।(२) ज्ञान मार्ग की यह भावना भक्ति मार्ग में और भी विकसित हुई और पुराणों ने घोषित किया कि समत्व ही ईश्वर का सच्चा आराधन है। (३)

निवृत्ति मार्ग में पातंजल योग द्वारा जीव ब्रह्म की एकता का साधन किया गया। इसी से तंत्रशास्त्र का साहित्य बना जिसके आधार पर आगे चलकर नाथ पंथ का उदय हुआ। इसी से निरंजन तथा निर्गुण पंथों का विकास हुआ। संतमत ने अब तक की चली आती हुई विचार धाराओं का समन्वय किया। नाथ पंथ के योग, शंकर के अद्वैतवाद तथा तांत्रिकों की ईश्वर कृपा आदि के सिद्धांतों का समन्वित रूप इस निर्गुण पंथ का प्रचार सन्तों की वाणी से होने लगा। इस प्रकार शताब्दियों से चले आते हुए एकान्तिक धर्म और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों की धाराओं का, जोकि वैष्णव और नाथपंथ के रूप में नवीन रूप से प्रगट हो रहीं थीं, निर्गुण संतमत में समन्वय हुआ।(४)

इस समन्वय में सबसे महत्वपूर्ण हाथ रामानंद का था जिन्होंने वैष्णव "शालग्राम" को योग प्रतिपादित "त्रिकुटी" स्थान में स्थापित किया। (५) नाभादास ने "भक्तमाल" में श्री रामानंद की प्रशंसा में जो पद्य कहा गया है उसमें उनके निर्गुण पंथी शिष्यों की परंपरा दी गई है। उससे निर्गुण पंथ पर श्री रामानद का प्रभाव अच्छी तरह लक्षित होता है:—

---

(२) शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः—गीता

(३) समत्वमाराधनमच्युतस्य—विष्णुपुराण

(४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १ सं० ४ माघ १९८०)

(५) श्रीरामानन्द कृत सिद्धांत पटल

"अनंतानंद कबीर सुरसुरा पद्मावति नरहरि ।
पीपा भवानंद, रैदास, धना, सेन की घर हरि ॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
विश्व मंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर ॥
बहुत काल वपु धारि कै, प्रनत जनन को पार कियो ।
श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु भवतरन कियो ॥"

वैष्णवधर्म की देन

समाज सुधार

सामाजिक क्षेत्र में भी रामानंद ने महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने शूद्रों की स्थिति को काफी ऊँचा उठाया। दक्षिण के आचार्य इस विषय में उतने उदार नहीं थे। रामानुज ने शूद्रों के लिये "प्रतिपत्ति मार्ग" अथवा ईश्वराधीन होने का उपदेश दिया था। उनकी भक्ति केवल उच्च वर्ण वालों के लिए थी। उसमे शूद्रों को पूरा अधिकार नहीं था। उत्तर भारत की परिस्थिति को देखकर श्री रामानंद जी ने अनुभव किया कि शूद्रों में भक्ति का उद्रेक हो चुका है, अतएव उन्हें उससे वंचित रखना अनुचित है। उन्होंने "वैरागी" नाम से साधुओं के दल का संगठन किया जिसमें सभी जाति के लोग संमिलित हो सकते थे। उनकी शिष्य मंडली में क्षत्रिय राजाओं से लेकर, नाई, कसाई, चमार तथा जुलाहे सभी को बराबर स्थान था। भविष्य पुराण में तो यहाँ तक उल्लेख है कि उन्होने बलपूर्वक विधर्मी बनाए गए लोगों को भी हिन्दू धर्म में शामिल किया और उन्हें "संयोगी" नाम दिया। (६) उनके इन कार्यों से रामानुज के अनुयायी

(६) म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामनंद प्रभावतः ।
संयोगिनश्च ते ज्ञेया अयोध्यायां बभूविरे ॥

श्रीवैष्णवों में असन्तोष उत्पन्न हो गया जिसके कारण उन्हें नवीन पंथ चलाना पड़ा।

शूद्रों की स्थिति में सुधार

रामानुज आदि आचार्य शूद्र की दृष्टि पड़ने से भोजन को अपवित्र मानकर फेंक देते थे। रामानन्द ने इन बातों को नहीं माना। इतनी उदारता रखते हुए भी वे शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं मानते थे।(७) रामानंद ने यद्यपि पूर्ण समता स्थापित नहीं की तो भी सामाजिक सुधार में उनका कार्य विशेष महत्व रखता है। यह कार्य उनके कबीर आदि शिष्यों ने आगे बढ़ाया।

वैष्णव धर्म का प्रधान लक्षण, जो कि उस के आरंभ काल ही से प्रगट हुआ था, नीच और छोटी कहलाने वाली जातियों के प्रति अनुराग था। इस पंथ के प्रवर्तक और नेता अधिकतर ऊँची जातियों के होते थे। इसलिये नीच जातियों को अपने पंथ में स्थान देते हुए भी वे उन्हें पूर्ण समानता का स्थान नहीं दे सके। किंतु तो भी उनकी स्थिति में पहिले से बहुत अधिक परिवर्त्तन हो गया। जन्म ही से ऊँच नीच होने की भावना हिंदू समाज में जड़ पकड़ चुकी थी और उसे दूर करना सदियों का काम था। शूद्र जब तक अनेक जन्म के बाद उच्च वर्ण में जन्म ग्रहण न करें तब तक उसको मुक्ति होना असंभव माना जाता था। वैष्णवों ने इस धारणा का खंडन कर यह प्रतिपादित किया कि नीच से नीच जाति में उत्पन्न मनुष्य भी भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। रामानुज ने शूद्रों को भक्ति का अधिकार देकर भी उसमें इतने विधि-विधान के

---

(७) (भविष्य पुराण खं० ४ अ० २१ श्लो० ५२)
तथा श्रीरामानन्द कृत आनंद भाष्य

बंधन लगा दिए थे वह उच्च वर्णों ही तक सीमित रह गई थी।

रामानंद ने इस भावना को बदल कर भक्ति में सभी को एक बराबर स्थान प्रदान किया। उनका यह कथन प्रसिद्ध ही है:—

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।

प्रेमा भक्ति—आचार्यों की वैधी भक्ति साधारण जनता की पहुँच के बाहर की वस्तु हो गई थी। जब रामानंद ने इस वैधी भक्ति के स्थान पर प्रेमा भक्ति का प्रचार किया तब उसमें सभी को बराबरी की सुविधा मिली।

उसमें न तो वाह्य शुद्धि के लिए स्नान प्राणायाम आदि की आवश्यकता थी, न बाहरी उपकरणों (तिलक माला आसन या पादुका) की जरूरत थी और न बाहरी उपचारों या आचारों का वैधी उपासना के लिए जिन पूजा द्रव्यों या षोड़शोपचार अथवा पंचोपचार पूजा विधियों की आवश्यकता थी उन सब साधनों का इस प्रेमाभक्ति में बहुत कम स्थान रह गया था। उनमें क्रिया की अपेक्षा भाव को, आचार के स्थान पर विचार को, उपकरण की जगह अंतःकरण को, तथा उपचार के बदले सदाचार को अधिक महत्व दिया गया। आचार्यों की नवधा भक्ति मे रामानंद ने प्रेमा भक्ति शामिल कर उसे 'दशधा' बना दिया और उसी को अधिक महत्त्व दिया। इसी कारण नाभाजी ने इन्हें "दशधा के आगर" विशेषण दिया है।(८) यह दशधा भक्ति मुख्यत: भाव प्रदान या हृदय प्रदान है।(९)

---

(८) विश्व-मंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर—भक्तमाल

(९) श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन वंदन दास्य सख्य और आत्मनिवेदन।

इस में नारद के अनुसार ११ आसक्तियों तथा (१०) मधु सूदन सरस्वती की ग्यारह भूमिकाओं को(११) प्रधानता दी गई है। हृदय को प्रधान रख कर आचार्यों ने भी सख्य, दास्य, वात्सल्य शांत और मधुर इन पाँच रसों को प्रधानता दी थी। उक्त तीनों के भाव प्रायः समान ही हैं।

निर्गुण सगुण समन्वय

रामानंद जी की शिष्य मंडली में निर्गुण और सगुण दोनों के उपासक शामिल थे। दोनों प्रणालियों का केंद्रीकरण उन्ही में हुआ था। उनके कुछ शिष्य भी दोनों उपासनाओं का समान आदर करने वाले थे। चौहान राजा पीपा (१३५२-१४०३ ई०) से लेकर सदना कसाई, धना जाट, सेन नाई, रैदास चमार तथा कबीर जुलाहा तक उनके परम भक्त थे।

कबीर के पूर्ववर्ती संतों की स्थिति सगुण और निर्गुण दोनों के मध्य में है। वे सगुणोपासकों के समान न तो ईश्वर के निराकार रूप को बिलकुल ही भुलाते और न निर्गुणियों के समान मूर्तिपूजा या अवतारों की निंदा करते हैं। तोभी निर्गुण पंथ के मूल भूत तत्व इनकी वाणी में मौजूद हैं। जाति भेद का विरोध, ब्रह्मवाद, ईश्वर की भक्ति तथा समाज सुधार की भावनाएं उनमें निहित हैं जो कि आगे चलकर कबीर की वाणी में और भी स्पष्ट रूप से प्रगट हुई। रामानंद के इन शिष्यों

---

(१०) गुणमहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कांतासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति, और परमविरहासक्ति,

(११) महत्सेवा, तद्दयापात्रता, तद्धर्म में श्रद्धा, हरिगुणश्रुति रत्यङ्कुरोत्पत्ति, स्वारूपाधि, गतिप्रेमवृद्धि, परानंदस्फूर्ति, स्वतःभगवद्धर्मनिष्ठा, सद्गुणशालिता और प्रेम की पराकाष्ठा।

ने कबीर के मार्ग को प्रशस्त किया। इन संतों की वाणी में लोक भाषा ही धर्म भाषा बन गई।

ये संत निर्गुण व सगुण संप्रदाय के बीच कड़ी का काम करते हैं। दक्षिण में नामदेव जी के संबंध में तो यहाँ तक कथा प्रसिद्ध है कि जब ब्राह्मणों ने उन्हें नीच जाति का होने के कारण श्री पंढरीनाथ के दर्शनों के वंचित रखना चाहा तब वे मंदिर के पीछे बैठ कर उनके भजन गाने लगे जिसके प्रभाव से :—

"विप्रन दिशि पछिवारा कीन्हा
मुख कीन्हा जँह नामा ॥" (कबीर)

इसी कारण सहजो बाई का कथनहै :—

"निर्गुण सूं सर्गुन भये, भक्त उधारन हार"

मीराँबाई की गणना भी इन्हीं में की जा सकती है जो कि 'सगुण' त्रिकुटी महल के निर्गुण झरोखे से गिरधार लाल की झांकी लगाती हैं और "सुन्नमहल में सुरत" जमाकर उसी के लिए सुख की सेज बिछाती है। मीराँ ने सगुण रहस्यवाद या पार्थिव रहस्यवाद की सृष्टि की। मरुस्थल की इस मंदाकिनी ने केवल राजस्थान की मरुभूमि ही को सजल नहीं किया बरन् निर्गुण की नीरसता में सगुण की सरसता का प्रवाह भी बहाया; निराकार शून्यवाद के रिक्त स्थान पर गिरधर लाल का त्रिभंगी साकार स्वरूप स्थापित किया। जितनी भावुकता, भाव प्रवणता और प्रेम तल्लीनता मीराँ में पाई जाती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

सूफी मत

कहा जा चुका है कि जिस प्रकार एक ओर हिन्दू मुस्लिम संस्कृतियों के संगम ने संत काव्य को उत्पन्न किया उसी प्रकार दूसरी ओर प्रेम काव्य को भी प्रेरणा दी। वेदान्त तथा सूफी-

मत दोनों का प्रभाव इन पर पड़ा। उनका वैराग्य प्रधान द्वैतवाद भारतीय दर्शन की देन है। (१२) ५वीं सदी के पहले अशोक के समय से भारतीय दर्शन का प्रभाव अरब पर पड़ना शुरू हो गया था और बौद्ध धर्म का महायान संप्रदाय वहाँ फैल चुका था। अरबों की सिंध विजय के बाद (७१२ ई०) जो विजेता भारत की संस्कृति और दर्शन अपने साथ ले गये उसी से अरब में सूफीमत का जन्म हुआ। इसका उल्लेख भी आबू हसन (७८० ई०) की रचनाओं में मिलता है। बगदाद के उदार चेता खलीफाओं के राज्य काल में यह सबंध अधिक बढ़ा और भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू हो गया। सूफीमत का उत्तरकालीन विकास हिन्दू विचारों के प्रभाव से फारस में हुआ और वहाँ से वह मुसलमान संतों के साथ भारत में आया। मौलाना नदवी भी यह मानते हैं कि भारत में आने के बाद सूफ़ियों पर हिन्दू वेदांतियों का प्रभाव पड़ा। (१३) किंतु असल में यह प्रभाव भारत के बाहर पहिले ही पड़ चुका था।

प्रेमपंथी कवियों का समन्वय

अलाउद्दीन खिलजी के समय "नरक और चंदाकी कहानी" के लेखक मुल्ला दाऊद (१४४० ई०) प्रेम काव्य के सबसे पहले कवि माने जाते हैं। 'मृगावती' के लेखक कुतबन (१५००. ई०) सिकन्दर लोदी के राजत्व काल में हुए। जिस समय कि आक्रमणकारियों तलवार अपनी रक्त की पिपासा बुझा रही थी इसी समय दोनों जातियों को मिलाने के लिये प्रेम काव्य सबसे अधिक आवश्यक था। इसी आदर्श पर मंझन ने "मधु-

(१२) Nirgun school of Hindi poetry pp. 8-10

(१३) अरब और भारत का संबंध पृ० २०३
श्रीरामचंद्र शुक्लः सूरदास पृ० २१

मालती," जायसी ने "पद्मावत" तथा उस्मान ने (१६१३ ई०) "चित्रावली" लिखकर इस प्रेम सूत्र को और भी दृढ़ किया। जायसी उन्हीं शेरशाह के समसामयिक थे जिन्होंने कि उल्माओं की कट्टरता की अवहेलना की थी। जायसी की उदारता इसी भावना के अनुकूल है।

संत कवियों का प्रभाव भी उन पर पड़ा जिनसे इन्होंने हठ योग की क्रियाएं आदि लीं। हिन्दू समाज में प्रचलित विचारों और आदर्शों से भी ये कवि नहीं बचे। संत कवियों के समान इन्होंने भी धार्मिक और सामाजिक एकता का साधन किया। अंतर केवल यह था कि संतों का मार्ग ज्ञान और तर्क का था और इनका प्रेम और श्रद्धा का। अतः इन्होंने संतों के समान हिन्दू मुसलमानों के विश्वासों का निर्दयता पूर्वक खंडन न कर उन्हें सहानुभूति पूर्वक समझने का प्रयत्न किया गया। इन कवियों ने धार्मिक सहिष्णुता को प्रेम के आधार पर रख कर उसे संत कवियों के समान मस्तिष्क की वस्तु नहीं किन्तु हृदय की चीज बना दिया। इनके काव्यों में हमें हिन्दू विचार-धारा और लोक व्यवस्था का पूरा आदर और समावेश मिलता है। निस्वार्थ प्रेम ही इनका मूल मंत्र था। इनमें विशेषता यह है कि मुसलमान होते हुए भी इन्होंने भारतीय कथानकों का उपयोग किया और ईश्वरीय प्रेम को मानव चरित्र में उतार कर उसे ऊँचा उठाया। हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दी भाषा के प्रेम ने उन्हें इन अमर प्रेम काव्यों की रचना के लिये प्रेरित किया। इनमें सूफी प्रेम तत्व तथा भारतीय उच्च त्याग तथा सतीत्व के आदर्शों का मेल किया गया है। डा० रामकुमार वर्मा के मतानुसार इन कवियों ने हिन्दू शरीर में मुसलमान प्राण डाल दिये हैं। (१४)

---

(१४) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १७६

इनकी भाषा भी निर्गुण संप्रदाय के संतों की वाणियों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और साहित्यिक है। साहित्यिक तथा आलंकारिक भाषा का इन्हीं मे आरंभ सा होता है। दोहा चौपाई में कथानक पद्धति का भी प्रारंभ इन्होंने किया। सिर्फ भाषा ही नहीं भावों में भी इन कवियों ने काफी परिवर्त्तन किया। निर्गुण सन्तों के प्रभाव से लोगों के हृदय में कुछ रूखापन तथा संसार से उदासीनता सी आगई थी। इसे दूर कर प्रेम के उच्च रूप को सामने रखकर जनता के हृदय में गृहस्थ जीवन के प्रति अनुराग तथा प्रेम की सरस धारा बहाना इन्हीं कवियों का काम था। प्रेम का महत्त्व तो कबीर, रैदास आदि सभी ने वर्णन किया था किंतु उसे जीवन का अंग इन प्रेम-मार्गी कवियों ही ने बनाया। नाम रूपरेख विहीन अज्ञात ब्रह्म का केवल आभास मात्र पाया जा सकता है अतः उसके वर्णन में जो गूढ़ता का सहारा लेना पड़ा उससे रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई। यह भावना भारतीय न होकर यहुदी, ईसाई और स्लामी थी।(१५) साधारण लोगों की समझ में ये बातें कठिनाई से आती हैं। दैनिक जीवन में प्रेम का प्रकाश ही उन्हें प्रभावित कर सकता है। इसी कारण प्रेम मार्गी कवियों को सफलता अधिक मिली। उन्होंने ईश्वर प्रेम को लक्ष्य कर मानव आख्यानों को रूपक बना अपने कथानक की रचना की जिसने जनता के हृदय पर काफी प्रभाव डाला। सूफी कवियों ही ने रहस्यवाद प्रारंभ किया। सूफी रहस्यवाद निर्गुण वाद का ही माधुर्य रूप था। (१६)

---

(१५) श्रीरामचंद्र शुक्ल : सूरदास पृ० ५०

[१६) पखारिणी पृ० २२

वेदांत और सूफीमत का समन्वय

जब आक्रमणकारी मुसलमान तथा आक्रांत हिंदू अपनी जय और पराजय को भूलकर एक देश की संतान के नाते रहने लगे तब उनमें एक दूसरे के धर्म और साहित्य को समझने और उसे हृदयंगम करने की इच्छा उत्पन्न हुई। एक धर्म के सिद्धांतों का दूसरे से आदान प्रदान तथा आकलन होने लगा जिसके फलस्वरूप धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता का प्रसार हुआ। एक ओर सूफीमत तथा दूसरी ओर अद्वैत प्रधान निर्गुण संत मत का उदय हुआ। किसी किसी की संमति में संत काव्य और सूफी कवियों के प्रेम काव्य हमारे साहित्य में मुसलमानी राज्य के विकार हैं। (१७) किंतु असल में ये दोनों ही दो महान् जातियों की विचार धाराओं के स्वाभाविक संमिश्रण तथा सामंजस्य विधान के प्रयत्न हैं।

कबीर के विचारों पर हिंदू या मुसलमान दोनों धर्म के उदारचेता संतों की छाप पड़ी थी। एक ओर सुधारक स्वामी रामानंद (१८) दूसरी ओर सूफीमत के आचार्य शेख यकी का प्रभाव उन पर पड़ा। (१९) इन दोनों की प्रेरणा तथा अपनी सुधारवादी प्रतिभा के योग से कबीर ने ऐसे साहित्य का निर्माण किया जिसमें दोनों धर्मों के मूल तत्व मौजूद थे किंतु दोनों की बुराइयों का निषेध था। उसमें स्लाम के एकेश्वर वाद तथा हिन्दू अद्वैत वाद का समन्वय है। निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना ही के द्वारा दोनों एकत्र हो सकते थे। धार्मिक कट्टरता

(१७) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० १००
(१८) काशी में हम प्रकट भये हैं रामानंद चिताए।
(१९) घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख (कबीर ग्रंथावली)

तथा छुआछूत आदि कुप्रथाओं था रोजा नमाज आदि बाहरी बातों का उसमें कोई स्थान नहीं है।

कबीर का कार्य

विधर्मियों द्वारा मूर्तियों के खंडन से हिन्दू समाज में एक ओर मूर्ति पूजा पर अविश्वास और दूसरी ओर नास्तिकता के भाव उत्पन्न होने लगे थे। अतः कबीर दास ने मूर्तिपूजा का विरोध तथा निर्गुण अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर हिन्दू समाज को निराशा के गड्ढे में गिरने से बचा लिया। डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल के अनुसार "कबीर के नायकत्व में इस नवीन निर्गुण वाद में समय की सब आवश्यकताओं की पूर्ति का आयोजन हुआ। इतना ही नहीं इसमें भारतीय संस्कृति का बड़े सौम्य रूप में सारा निचोड़ आ गया। इस आन्दोलन ने अपनी सारग्राहिता के कारण भारत की समस्त अध्यात्मिक प्रणालियों के सार भाग को खींचकर ग्रहण कर लिया। सामाजिक व्यवहार तथा पारमार्थिक साधना दोनों के क्षेत्र में पूर्ण ऐक्य तथा समानता प्रचार करने वाली समस्त अध्यात्मिक प्रणालियों के सार स्वरूप इस आन्दोलन का नायकत्व कबीर के बाद सैकड़ों उदारचेता संतों ने समय समय पर ग्रहण किया।" (२०)

कबीर ने सचमुच इस समता तथा एकता का 'झीनी झीनी चदरिया' को खूब ठोक २ कर बिना है। अंत में

"बहुत बरस तप कीया काशी"
मरनु भयो मगहर की बासी॥

मरते मरते भी वे अंध विश्वास का खण्डन करते गये।

"हृदय कठोर मरा बनारसी नरक न बंच्या जाई"।
हरि का दास मरे मगहर में सेना सकल तिराई॥

---

(२०) निर्गुण पंथ—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भा० १५ अंक १

कबीर संसार के दुख से दुखित थे और उसकी चिन्ता में चिर जागरूक :—

सुखिया सब संसार है खावे अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवे॥

यही कारण है कि इस अपढ़ जुलाहे का छंद पिंगल हीन रूखी सूखी खरी खरी बोलचाल की अटपट बानी से भरी हुई "पंच मेल खिचड़ी" और "अक्खड़ गँवारू कविता" होते हुए भी रवीन्द्र सरीखे कवीन्द्र भी उन्हे 'रहस्यवाद के आचार्य तथा समन्वय और सुधारवाद के आदर्श' मानते है।

कबीर हा के शब्दों मे हम कह सकते हैं:—

"हम न मरै मरिहै ससारा, हमको मिला जियावन हारा"।

सचमुच जिस समाज को इन सरीखा 'जियावन हारा' मिला है वह कभी नहीं मर सकता।

निर्गुण संतों के सिद्धांत : १ ईश्वर संबंधी

संक्षेप में सन्त कवियों के सिद्धांत इस प्रकार हैं:—

(१) ईश्वर एक है:—

दुइ जगदीश कहाँ ते आये, कहु कौने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केशो, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते कहना, तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दोइ कर राखे, सोइ नमाज सोइ पूजा॥

(कबीर)

वह सर्व व्यापक भी है:—

"घीव दूध सम रमि रहा व्यापक सब ही ठौर"।

इस कारण जगत और जगदीश एक रूप हैं:—

"खालिक खलक खलक मँह खालिक सब घट रहा समाई"।

(२) वह निराकार निर्विकार और अचिंत्य है:—

अवरण अकल एक अविनासी, घट घट आप रहे (कबीर)
रूप वरण कछु नाहीं सहजो रंग न देह।
(सहजो बाई)

(३) आत्मा उसीका अंश और माया आवरण है, जिसके दूर होते ही वह ईश्वर रूप हो जाता है।

(४) अनेक नामों से पुकारे जाने वाले उसी एक के नाम से सब भेद भाव उड़ जाते हैं :—

दास मलूक कहाँ भरमौं तुम राम रहीम कहावत एकै
(मलूकदास)

कृष्ण करीम रहीम राम हरि जब लगि एक न पेखा।
वेद कतेब कुरान पुरानि, तबलगि तुमही देखा। (रैदास)

अलख इलाही एक तूं तूही राम रहीम। (दादू)
राम कहो रहिमान कहो कान्ह कहो महदेव री।
पारस नाथ कहो कोऊ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयेमव री॥
राम रहीम करीम करीवा, अलह राम सहि सोइ।
वेद कुरान पुरानौ एकै और न दूजा कोई॥ (कबीर)
जब दिल मिला दयाल सों तब अन्तर कछु नाहि।(दादू)
साहिब मिल साहिब भये कछु रही न तमाई (मलूक दास)

(५) वह सब में होकर भी सबसे परे है;
बाणी मेरे पीव की न्यारी जो संसार।
निराकार के पार थैं, तिन पारहु के पार॥ (दादू)

अद्वैतवाद ही के आधार पर दोनों धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया।

२ एकता संबंधी

जब ईश्वर है वन जातियाँ कैसे दो हो सकती है। अतः जातीय एकता की महत्ता भी एक दूसरे की समझ में आने

लगी। संत कवियों में गुरु गोरख नाथ ने सर्व प्रथम इस एकत्व भावना को साहित्य में प्रगट किया—

"जिस पाणी से कुल आतम उतपानं।
ते हिन्दू बोलिये कि मुसलमानं॥
हिन्दू मुसलमान खुदाइ के बंदे।
हम जोगी ना रखैं किन ही के फंदे॥" (१०)

नानक ने भी इसी एकता पर जोर दिया :—

"जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार॥"

और कबीर ने तो अपने धर्म पट को हिन्दू का ताना और मुसलमान का बाना डाल कर एक सुदृढ़ वस्त्र ही बना डाला :—

तुरुक मसीद देहुरे हिंदू दुहुँठा राम खुदाई।
जहाँ मसीद देहुरा नाहीं तहं काकी ठकुराई॥

दादू दयाल

दादू दयाल ने एक ब्रह्म की एकता के आधार पर सब धर्मों व पंथों की एकता का प्रचार किया। उनकी राय में जो इस एकता में भेद मानते हैं वे मानों एक अखंड ब्रह्म के टुकड़े टुकड़े कर उसे आपस में बांट लेना चाहते हैं :—

खंड खंड कर ब्रह्म को
पखि पखि लीया बाँट।
दादू पूरण ब्रह्म तजि
बँधे भरम की गाँठि॥

बहुत पथों की निंदा करते हुए वे पूछते हैं—

दादू ये सब किस के पंथ मे
धरती अरु असमान।
पानी पवन दिन रात का
चंद सूर रहमान॥

(१०) काफिर बोध

मोहमद किसके दीन में
जिवराइल किस राह ?
जिनके मुर्शिद पीर को
कहिये इक अल्लाह ॥"

और अन्त में अपना निर्णय देते हैं :—

दादू किस के ह्वै रहे
यह मेरे मन मांहि ॥
अलख इलाही जगत गुरु
दूजा कोऊ नांहि ॥"

बहु पंथ तथा संप्रदायवाद के विषय में दादू का अध्ययन करने वाले प्रसिद्ध विद्वान् श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन लिखते हैं :—

"संप्रदाय सत्य-द्रष्टा महापुरुषों का कब्रिस्तान है। चेला लोग गुरु के नाम पर अटारी खड़ी करना चाहते हैं। अगर गुरु मरे न हों तो भी लोग गुरु व उनके सत्य को बध करके इस अट्टालिका को खड़ा करेंगे। जीवन में गुरु की आग ग्रहण करो। बुझे हुए मसाल व अग्नि के उच्छिष्ट को संग्रह मत करो। गुरु को वधकर संप्रदाय की अट्टालिका खड़ी मत करो। (११)

अपनी अपनी राह या संप्रदाय के आग्रह से दुखी होकर दादू कहते हैं :—

हिन्दू मारग कहै हमारा
तुरक कहै रह मेरी।
कहाँ पंथ है कहो अलह का
तुम तो ऐसी हेरी ॥

किन्तु ईश्वर को यह द्वैत का भूठ प्रिय नहीं है उसे तो एकता का सत्य ही प्यारा है :—

(११) क्षितिमोहन-सेन : दादू; तथा विशाल-भारत : संत साहित्य

दुई दरोग लोग कों भावै
साईं साँच पियारा।
कौन पंथ हम चलें कहौ धौं
साधो करौ विचारा ॥।॥

अंत में वे दोनों झगड़ने वालों को गँवार समझ कर इनके ऊपर उठने का उपदेश करते हैं :—

दादू दूनूं भरम हैं, हिन्दू तुरुक गँवार।
जे दुहुवाँ मैं रहित हैं, जो गति तत्व विचार ॥
अपना अपना करि लिया, भंजन मांहैं वाहि।
दादू एकै कूप जल, मन का भरम उठाहि ॥

धार्मिक उदारता संतों की विशेषता है। हिन्दू तथा मुसलमानों दोनों में ऐसे संत हुए हैं, जिनमें धार्मिक पक्षपात छू नहीं गया था। उन्होंने दोनों धर्मों की आंतरिक एकता का अनुभव कर हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रचार किया।

बाबा धरनी दास (सन् १७१३) भी ऐसे ही संतों में से थे जिन्होंने ईश्वर की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन किया। जब उन्होंने अनुभव कर लिया कि—

ठाकुर एक है सिरजन हारा

तब फिर उसकी संतान में भेद कैसा ? फिर तो यही विश्वास हो जाता है कि :—

जाहिर जीव जहान जहाँ लगि सब में एक खुदाई।

उस एक सिरजनहार को वे कभी राम तो कभी अल्लाह के नाम से पुकारते हैं :—

करता राम करै सो होय।
एक अल्लाह दोस्त है मेरा
अवर मान बेगाना।

उनकी राय में जब तक इस एक तत्व की पहचान नहीं तब तक तीर्थ-व्रत रोजा-नमाज सभी व्यर्थ है :—

जौलों मन तत्तहि नहिं पकरै।
काहे के तीरथ बरत भटकि भ्रम थाकि थाकि थहरै।
मंदिर मसजिद सुरति मुरति करि धोखे ध्यान धरै॥

वह परम तत्व प्रेम के सिवा और कोई नहीं—

धरनी प्रेम मगन जन कोई सोई सूर सुभागा।

इस प्रेम का प्रकाश दिल में दया या दर्द के द्वारा होता है जिसके बिना यह दिल का मालिक मिल नहीं सकता:—

दूर नहीं है दिल का मालिक, बिना दरद नहिं पैहो।
धरनी बांग बुलंद पुकारै, फिर पाछे पछतैहो॥

इस परम प्रेम ही के द्वारा हिन्दू मुसलिम एकता का साधन हो सकता था।

जब दोनों का मालिक एक है, और दोनों का हाड़-मांस एक ही जल थल से बना हुआ है तब बिना दोनों की एकता स्थापित हुए संतों का मन कब मान सकता है ?

हिन्दू से राम अल्लाह तुरक से बहु बिधि करत बखाना।
दुहु को संगम एक जहाँ तहँवा मेरा मन माना॥

३ बाह्य उपचार संबंधी

बाहरी उपचारों को बिना त्यागे मूल तत्व प्राप्ति असंभव समझकर इन संतों ने मंदिर-मसजिद, रोजा-नमाज, व्रत तथा उपवास काबा काशी के ऊपर सबसे परे रहने वाले एक ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया :—

हिंदू लागे देहुरे, मुसलमान मसीत।
हम लागे एक अलख सो, सदा निरंतर प्रीत॥ (दादू)

संतों ने इन क्रिया-कलापों से केवल मनुष्य को ही मुक्त नहीं किया वरन् मिट्टी पत्थर के अयनों से ईश्वर को मुक्त कर भी दिया। उन्होंने मनुष्य निर्मित मानव देह तथा उसके अंतर में जगमगाती उसी की ज्योति का मान करने का आग्रह किया :—

मसीत सवाँरी मानसा, तिसकूं करे सलाम।
ऐन आप पैदा किया, सोठाँ है मूसलमान ॥ (मलूकदास)

उन्होंने अप्रत्यक्ष देवता की अपेक्षा प्रत्यक्ष मानव देवता की पूजा का आयोजन किया :—

हिंदू पूजें देहुरा, मुसलमान महजीद।
पलटू पूजै बोलता, जो खाय दीद बर दीद ॥ (पलटूदास)

ये संत बाह्य पूजा की अपेक्षा आंतर पूजा के प्रचारक थे:—

यह मसीत यह देहुरा, सतगुरु दिया दिखाय।
भीतर सेवा बंदगी, बाहिर काहे जाय ?

४ वर्ण साम्य संबंधी

बाहरी आक्रमण की ओर से देश का ध्यान हटकर अब आंतरिक सुधारों की ओर आकर्षित हुआ। हिंदू धर्म के भीतरी अनाचार, अंधविश्वास और कट्टरता, जो उसे भीतर ही भीतर घुन के समान खाए जा रही थी उसे दूर करने के लिए कबीर आदि संत कवियों ने अपनी वाणी द्वारा प्रबल प्रयत्न किया। तमिल देश के आलवार संतों ने बहुत पहले ही ईश्वर की एकता तथा मनुष्य की समता के आदर्श घोषित किया था। तिरुमूलर (११०० ई०) ने घोषित किया था—'ईश्वर एक है और जाति भी एक ही है।' नम्बलवर ने भी प्रतिपादित किया था—"वर्ण से मनुष्य ऊँच या नीच नहीं हो सकता; ईश्वर ज्ञान ही से उच्च हो सकता है।" जब तिरुपन्नालवार को नीच जाति का होने के कारण श्रीरंग के मंदिर में जाने से रोका

गया तब एक भक्त ब्राह्मण उन्हें कंधे पर उठाकर भीतर ले गया था।

बारहवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक भारत में अद्भुत धर्म जागृति का समय था। वैष्णव संतों ने ग्रस्त रूढ़ि विकारों से धर्म को शुद्ध कर उसे नवीन आधार पर स्थापित किया। कबीर, नानक, रैदास, दादू, पलटू आदि संतों ने धर्म को हिंदू, मुसलमान, स्त्री पुरुष तथा जाति पाँति के भेद से ऊँचा उठाकर उसका कायापलट ही कर दिया। इस्लाम की समता के विरुद्ध हिंदू धर्म की जाति पाँति तथा छुआछूत की विषमता संतों को बहुत खटकी और उन्होंने उसके विरुद्ध आवाज उठाई :—

एक बूँद एकै मल मूत्तर एक चाम एक गूदा।
एक जोति तें सब जग उपजा को ब्राह्मण को शूदा॥
एकै पवन एक ही पाणी, करी रसोई न्यारी जाणी।
माटी सूं माटी लै पोती, लागी कहौ कहाँ सूँ छोती।
धरती लीपि पवित्तर कीन्हीं। छोति उपाय लीकि बिच दीन्हीं।
याका हम सूं कहौ विचारा। क्यूँ भव तरिहौ इहि आचारा॥

जन्म ही के कारण ब्राह्मण शूद्र का भेद उन्हें मान्य नहीं था :—

जो तूं बाँभन बह्मनी जाया। आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया?
जौ तू तुरक तुरकिनी जाया। भीतर खतना क्यों न कराया?

इसलिए अंत में वे कहते हैं :—

काहे को कीजे पांडे छूत बिचारा। छूतहि ते उपजा संसारा।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध। तुम कैसे बाँभन हम कैसे शूद्र॥
छोति-छोति करते तुम आए। गर्भ वास काहे को जाये॥
जन्मत छोति मरत पुनि छोति। कह कबीर हरि निर्मल जोति॥

जब संत जन एक ही मालिक के रचे हुए भिन्न-भिन्न धर्मावलंबियों में भेद नहीं मानते तो वे हिंदू-हिंदू में कैसे भेद भाव कर सकते हैं ? वे तो तुलसीदास के अनुसार सब जग को सीय राम-मय जानते हैं; समर्थ रामदास के शब्दों में जगत् ही को जगदीश (जगत् तोचि जगदीश) मानते हैं; भक्त तुकाराम के साथ विट्ठल को "विश्वजन व्याप्त" समझते हैं, स्वामी रामानंद की अमरवाणी में "पूरि रहे हरि सब समान" मानते हैं और उनके शिष्य कबीरदास की अमर साखी में "सब हम माँहि सकल हम मांही" में विश्वास करते हैं।

इससे भी आगे बढ़कर संत धरनीदास यह मानते हैं कि जो इस बात में विश्वास न करे वही असल में चांडाल है— संसारी चांडाल, चांडाल नहीं है :—

जगत मांहि जगदीश पियारा।
जो बिसरावे सो चंडारा॥

यही विचार कर उन्होंने करनी ही पर जोर दिया है और जाति पाँति को बिल्कुल महत्व नहीं दिया :—

करनी पार उतारि है, धरनी कियो बिचार।
साकित ब्राह्मन नहि भला, भक्ता भला चमार॥
मांस अहारी ब्राह्मना, सो पापी बहि जाउ।
धरनी शूद्र बैश्नवा, लागि चरन सिर नाउ॥

जाति भेद के संबंध में दादू कहते हैं :—

पानी के बहु नांव धरि, नाना विधि की जाति।
बोलनहारा कौन है, कहौ धौं कहां समाति॥

उन्होंने आत्म-दृष्टि से सब को एक समझ कर देह-दृष्टि ही से भिन्नता मानी है :—

जब पूरण ब्रह्म विचारिए
सकल आतमा एक ।
काया के गुण देखिये तौ
नाना वरण अनेक ॥

जो एक भाव देखते हैं उनमें भेद-भाव कैसे उपज सकता है :—

सदा लीन आनंद में, सहज रूप सब ठौर ।
दादू देखै एक को, दूजा नहीं और ॥
दादू देखौं दयाल कों, रोकि रह्या सब ठौर ।
घटि घटि मेरा सांइयाँ, तू जनि जानै और ॥

इसी कारण इन संतों ने जातिभेद के आधार पर वर्णाश्रम धर्म तक पर आघात किया :—

चारि वरन को मेंटिकै भक्ति चलाई मूल ।
गुरु गोविंद के बाग में "पलटू" फूले फूल ॥

इस मूल तत्व को ग्रहण न करने के भयंकर परिणाम कबीर प्रगट करते हैं :—

चलती चक्की देखि कै, दिया कबीरा रोय ।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय ॥

इसका समाधान करने के लिए मलूक दास उत्तर देते हैं :—

इधर उधर देई फिरै, तेइ पोसे जांहि ।
जे मलूक कीली गहैं, तिनको भय कछु नांहि ॥

भक्त रैदास जी के लिए तो नाभा जी सरीखे वैष्णव का सिर श्रद्धा से झुक जाता है :—

"वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज बन्दै जासुकी ।
पाषंड धृंद खंडन करन बानि विमल रैदास की ॥

[भक्तमाल

समस्या का सुधार

यह प्रेम की नदी परिवार जाति तथा धर्म की सीमा पार कर सारे समाज में व्याप्त हो गई और उसमें नींच ऊंच का भेद भाव ही लुप्त हो गया। "मानिय सबहिं राम के नाते" के अनुसार समाज के सभी व्यक्तियों के साथ एक नवीन नाता स्थापित हो गया। श्री रवीन्द्र नाथ ठाकुर कहते हैं :—

"भारत के मरमिया (मर्मज्ञ) कविगणों ने शास्त्र निर्मित पत्थर के बोझ से भक्तों के मन को मुक्त कर दिया है। प्रेम के अश्रुजल से देव मंदिर के अंगन से रक्तपात की कलंक रेखा को धो देना ही उनका काम था। अपने भीतर के आनन्दालोक से मनुष्य के सकल भेद मिटा देना ही इन राम-दूतों का मुख्य कार्य था।"(१२)

अंग्रेजी कवि शेली ने कहा है कि विश्व की अधिष्ठात्री देवी आनन्द लक्ष्मी ही मनुष्य को सब बन्धनों से मुक्ति देगी। उनके आनन्द से ही मनुष्य की भेद बुद्धि दूर हो सकती है। भारतवर्ष में प्रचलित बहुत से मतमतांतरों के बीच इन्हीं संतों की मर्मवाणी ऐक्य-सूत्र का काम देती है। गुरुदेव ने कहा है "भारत के जो महापुरुष हुए उन्होंने सदा मनुष्य, मनुष्य के बीच आत्मा की एकता का सेतु निर्माण किया है। भारत की श्रेष्ठ साधना है—बाह्य आचार को अतिक्रम करके अन्तर के सत्य को स्वीकार करना। परंपरा से महापुरुषों का आश्रय लेकर यह साधना की धारा चिरकाल से चलती आई है। यद्यपि भारत में समाज की बाहरी अवस्था के साथ इस अंतर-साधना का विरोध भी रहता आया है (जिस प्रकार नदी के स्रोत को पत्थर बाधा) देते हैं, किंतु उस बाधा को पार करके बहुत से आघात

---

(१२) दादू : भूमिका

प्रत्याघातों के भीतर से विस्तृत बालुकाराशि को चीर कर रास्ता बनाती हुई यह वाणी समुद्र संधान के लिये चली जाती है। यही स्वच्छ किन्तु प्रच्छन्न धारा बाहर की विभिन्नता के भीतर ऐक्य सूत्र के समान है।"(१३)

सिक्ख संप्रदाय

देश को उस निराशा की नींद से जगाने के लिए कबीर ने अपनी पींजन के स्वर में और नानक ने (सन् १४६६) अपने "गड़रिये के गीतों मे" वह सुधारवाद और स्वाभिमान की लहर पैदा की जिसके फलस्वरूप सुदृढ़ सिक्ख संप्रदाय का जन्म हुआ और जिनके प्रताप से आगे चलकर "गुरु तेगबहादुर बोलिया सिर दीजे सार न दीजिए" तथा उनके पुत्र गुरु गोविन्द सिंह जी ने घोषित किया :—

सकल जगत में खालसा धर्म गाजै।
जगै धर्म हिन्दू सकल भीति भाजै॥

गुरु नानक ने तत्सामयिक धर्म ग्लानि का भी अच्छा चित्र खींचा है :—

"सासन वेद न मानै कोई, आपो जापै पूजा होई।
गुरुक मंत्र कनि रिदै स-ाई, लगे मुहात्रहि घाँकी खाई॥"
चौका दैके सुथा होइ, ऐसा हिन्दू वेखहु कोई॥"

एक टीकाधारी गौ का कर लेने वाले ब्राह्मण को संबोधन कर वे पाषंड त्यागने का उपदेश देते हैं :—

गऊ विरामण का कर लावहु, गोवर तरण न जाई।
धोती टीका तै जप माला, जान मलेच्छा खाई॥"

इसी सुधारवाद के कारण गुरु नानक मध्य काल के राम मोहन राय कहे गए हैं।

---

(१३) वही

नवम अध्याय

भक्तों की भावना

निर्गुण सगुण कवि

हम देख चुके हैं कि संत कवियों ने निर्गुण निराकार को मानते हुए भी ईश्वर भक्ति तथा उत्कट प्रेम पर जोर दिया और इसी को सब साधनों से श्रेष्ठ माना। निर्गुण संतों से भी अधिक सूफी प्रेमी कवियों ने प्रेम के महत्व को बढ़ाया। रहस्यवादी होने के कारण उनका उपास्य भी रहस्यमय रहा। प्रेम की भावना किसी स्पष्ट व्यक्तित्व की अपेक्षा करती है और उसे न पाकर शून्य ही में चक्कर काटा करती है। निराकार की उपासना जब प्रेम की

भावना के साथ संपर्क में आई तभी एक साकार मूर्ति की आवश्यकता जागरित हो उठी। श्रीरामकुमार वर्मा के शब्दों में:—

"निराकार भावना का रूप स्पष्टता पाकर कुछ कुछ साकार आभास देने लगता है। निराकार तभी तक शुद्ध रहता है जब तक उसमें उपासना का भाव अविच्छिन्न रूप से वर्त्तमान रहता है। जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है। उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। (१)

श्री वर्मा जी के मत में कबीर की निराकार बुद्धि और भक्ति भाव दोनों असंगत वस्तुएं हैं जिसे एकाकार कर कबीर ने बड़ी भूल की। हमारी समझ में कबीर ने समय की आवश्यकता पूर्ति के लिये जिस मार्ग का अवलंबन किया वही उचित था। साकार उपासना के द्वारा वे हिन्दू मुसलमान दोनों धर्मों की एकता का साधन, जोकि उनका लक्ष्य था, कभी न कर पाते। उनके तर्क से तो "निर्गुण निराकार" शब्द भी ईश्वर का असली रूप व्यक्त करने में असमर्थ है और इसी कारण उन्होंने ऐसे ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन किया जो निर्गुण सगुण से परे है:—

निर्गुण की सेवा करो, सगुण को करो ध्यान।
निर्गुण सगुण से परे, तहाँ हमारो ध्यान॥

इस प्रकार निर्गुण कवियों की भक्ति तथा सूफी कवियों की प्रेमभावना के विकास का स्वाभाविक परिपाक सगुण साकार की उपासना ही था जोकि आगे के कवियों में प्रगट हुआ।

ईश्वर जीव के एकत्व साधन के लिये, भक्ति एक साधन के रूप में अवतरित हुई। इसके लिये एक व्यक्तित्व की आवश्यकता हुई और साकार का अवतार हुआ। इस उपासना

---

(१) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० २६७

के लिये अलग २ भावों का प्रचार हुआ। मानव संबंधों के अनुरूप ही भक्तों ने ईश्वर के प्रति भावनाएं करना प्रारंभ किया जिससे सख्य, दास्य, वात्सल्य और माधुर्य आदि भावों का उदय हुआ। वैदिक मंत्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" में हमें जीव और ब्रह्म के सख्य भाव का पहले पहल दर्शन होता है। भागवत ने भी 'तनुभृतां खलु बन्धुरात्मा' कहकर ईश्वर के इस बधुत्व को स्वीकार किया। किन्तु बंधुत्व की भावना में समानता ही प्रधान रही जिससे कि 'सर्व भावेन' भक्ति भावना को पूरा सन्तोष नहीं मिला। उसके लिये सेवक सेव्य भाव या दासत्व और स्वामित्व की भावना का उदय हुआ। इस भाव में भी जब अनन्यता की भावना पूर्णता का न पहुँची तब वात्सल्य भाव का आश्रय लिया गया। वात्सल्य भाव में यदि दास्य से अनन्यता अधिक है तो सर्वस्वसमर्पण की भावना कम है। अतः दोनों की पूर्ति पति पत्नी प्रेम के माधुर्य भाव के द्वारा हुई। इसमें अनन्यता के साथ सर्वार्पण की भावनाओं का जैसा समन्वय होता है वैसा किसी दूसरी भावना में नहीं होता।

निर्गुण पंथ में जैसे ज्ञान का स्थान भक्ति ने लिया वैसे ही शांत भाव के स्थान पर 'क्रांत भाव' आकर विराजमान हो गया। अनन्यता के लिये उन्होंने इसी भाव को प्रधानता दी। कबीर आदि ने अपने को राम की 'बहुरिया' कहकर अपने विरह को व्यक्त किया। निर्गुण कवियों में यह भावना भी निर्गुण ही रही किन्तु सूफी मतावलंबी प्रेमी कवियों में वह अन्य गुणों से संयुक्त होकर 'सगुण' हो गई। धरनीदास और मीराँ बाई आदि 'उभय प्रबोधक' कवि और कवियित्रियों पर इस भावना ने और भी गहरा रंग चढ़ाया और सूरदास आदि सगुण कवियों के हाथ में उसने पूरा साकार रूप धारण कर लिया। इतना

ही नहीं, वह इतने पार्थिव रूप से साकार हुई कि उसमें स्वकीया की अपेक्षा परकीया भाव अधिक प्रबल हो गया। ऐसे संप्रदायों का उदय हुआ जिनमें ऊढ़ा राधा का प्रेम ही आदर्श प्रेम माना गया और उसकी समर्थक ऋग्वेद की ऋचा 'योषा जारमिव प्रियं' तथा गीता के 'प्रियः प्रियाया इव देव सोढुम्' को उद्धृत कर वे इस "परकीया प्रेम ही को प्रेम का परितः परिपाक"(२) मानने लगे। निर्गुण निराकार के साथ केवल विरह का ही प्रदर्शन हो सकता था क्योंकि वहाँ तो सूरदास के शब्दों में "रूप रेख गुण जाति जुगुति बिन निराधार मन चकृत धावै।" निराकार के साकार रूप में अवतरित होने पर ही उसके साथ सख्य, दास्य, वात्सल्य तथा रति का उदय हो सकता है। निर्गुण के साथ तो रति की जगह विरति ही अधिक संभवनीय है। इसी कारण निर्गुण कवियों में विरह और सगुण कवियों में मिलन की भावनाएं प्रधान है। इन दोनों के कांत भाव में इतना अन्तर है।

सगुण कवि

सगुण कवियों के हाथ में निर्गुण कवियों द्वारा उद्बोधित 'सत्य ने सौन्दर्य धारण किया, अदृश्य ने दृष्टान्त पाया।' श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में इन्होंने 'भक्तिमय चित्र काव्य' उपस्थित किया। सूर सागर असल में सौन्दर्य सागर ही है। उसने सौन्दर्य राशि के हमें दर्शन कराये:—

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुद्धि विवेक बल पार न पावत मगन होत मन नागर॥

वह रूप बुद्धि विवेक से पाने की वस्तु नहीं। निर्गुण 'मन-

(२) भुवनेश्वर नाथ मिश्र: मीरा की प्रेम साधना: परम भाव का स्वरूप" पृ० २०

वाणी, से अगम अगोचर' होने के कारण वहाँ 'निराधार चित्त चकित होकर दौड़ता फिरता है। इसके बदले सगुण कवियों ने सुगम और सुगोचर एक ऐसा व्यक्तित्व उपस्थित किया जिनमें मन के लिये एक आधार, एक केन्द्र मिल गया है।

शांतिप्रिय द्विवेदी "निर्गुण के रहस्यवाद को कृष्ण काव्य की प्रतिक्रिया" मानते हैं(३) किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से सगुण संतों का यथार्थवाद, निर्गुण संतों के रहस्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उदय हुआ था। इन्होंने बुद्धि के बदले हमें हृदय प्रदान किया। निर्गुण सन्तों के बुद्धिवाद की अपेक्षा सगुण कवियों के हृदय की भाव-प्रवणता ने जनता का भावुक हृदय अधिक आकर्षित किया। उन्होंने सत्य के निराकार रूप के स्थान में कला का साकार स्वरूप हमारे सामने रक्खा।

निर्गुण संतों ने जगत् की नश्वरता का प्रतिपादन कर समाज को सांसारिक अनुरागों से उदासीन बना दिया था। "उन्होंने गृहस्थ जीवन की कदर्थता में माया का विचार ही अविचार देखा।" सगुण कवियों ने गृहस्थाश्रम का गौरव तथा दांपत्य प्रेम का सरस अनुराग उत्पन्न किया।

कृष्ण काव्य को 'मानव जीवन का भावयोग' भी कहा गया है। इसी कारण इसमें सौंदर्य की प्रधानता है। 'निर्गुण यदि चेतन मय है तो सगुण मानव मय है।'

इस समय सारे देश में अनेक आचार्यों तथा संतों ने भक्ति की सरिता से देश सावित कर दिया। रामानुज के समसामयिक निंबार्काचार्य ने दक्षिण में जन्म ग्रहण कर वृन्दावन में अपने द्वैताद्वैतमत (१२०० से १२७५ ई०) का प्रचार

(३) श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी : संचारिणी

किया। कन्नड़ देश में मध्वाचार्य ने (१२५७ ई०) द्वैतमत का प्रचार किया। दक्षिण में त्रिलोचन (१२६७ ई०) और नामदेव (१२७० ई०) तथा बंगाल में जयदेव और मिथिला में विद्यापति (१४०० ई०) ने अपनी मधुर वाणी से भक्ति का प्रचार किया। इसके उपरान्त चैतन्य महाप्रभु (सन् १४८५ से १५३० ई०) और उनके शिष्यों ने जयदेव और विद्यापति के गीतों को भक्ति प्रचार का साधन बनाया।

महाराष्ट्र संत

उस समय वर्ण व्यवस्था शिथिल हो गई थी। ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों में भी धर्म भावना लुप्त हो रही थी। ब्राह्मण भी म्लेच्छ राजाओं को प्रसन्न करने का प्रयास करते थे। समाज के इस पतन और रूढ़ि प्रेम का उल्लेख संतों की वाणी में मिलता है—'यत्र तत्र कनफटे, बैरागी, मलंगे आदि फैले हुए हैं; राजा भ्रष्ट यवन और प्रजा भक्षक हो गये हैं; वर्षा आदि समय पर नहीं होती, धरती अंकुरित नहीं होती और उजाड़ होने लगी है; धर्म को लगे हुए ग्रहण के खग्रास होने का भी भय होने लगा है; ऐसे समय में हमने धर्म की रक्षा के लिए अवतार लिया है; ऐसा श्री एकनाथ और तुकोबा ने कहा है।

ज्ञानदेव के समय ही यह ह्रास शुरू हो गया था। उनके समाधि के बाद नामदेव ने अपने अभंग में कहा है 'राजा भ्रष्ट यवन है; यह कलियुग का दोष है। उस दोष को मिटाने के लिए इन्होंने (ज्ञानदेव ने) अवतार लिया है।' अलाउद्दीन खिलजी के बाद उत्तर से मुसलमान आने लगे। कुछ समय बाद दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना हुई। इसी समय, १३३५ ई० में हिन्दू राज्य विजयनगर ने स्वधर्म रक्षण किया। सन् १५६५ तक यह राज्य रहा।

प्रायः सभी संतों का उपदेश सच्चिदानंद प्राप्त करने का रहा है। वेदों पर सभी की श्रद्धा थी। वर्णाश्रम की मर्यादा कायम रखते हुए इनका उद्देश्य तो यह था कि निस्वार्थ दृष्टि से, निर्मल अंतःकरण से विचार करने पर ही स्वधर्म का उदय होगा। विदेशियों के संपर्क के कारण होनेवाली विशृंखलता आदि को देखते हुए उन्होंने वैदिक धर्म को समय के अनुसार सुलभ बना दिया। विट्ठल, गाणपत्य, दत्त, खण्डेराव, ये चार उपासना संप्रदाय उस समय महाराष्ट्र में प्रचलित थे। उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया कि उपासना मार्ग या मोक्ष प्राप्ति में वर्ण, लिंग आदि के भेद बाधक नहीं बनते। विट्ठल संप्रदाय के साधुओं ने समाज संघठन का बड़ा प्रयत्न किया। पंढरपुर की यात्रा के लिए तुकाराम स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र सब का आह्वान करते थे। उनके विचार में यात्रा देवता, धर्मग्रंथ, धर्म की एकता सिद्ध कर विशृंखलित समाज के संघटन का अच्छा साधन थी। ब्राह्मण क्षत्रियों के अलावा अन्य वर्णों को भी संतों की वाणी प्राप्त हुई। गो, ब्राह्मण की रक्षा का प्रश्न जो इन संतों ने उठाया, उसका शिवाजी आदि पर भी काफ़ी प्रभाव पड़ा। संतों ने जनता में चेतना का संचार किया।

रामानंद के पहिले महाराष्ट्र में अनेकों संतों का उदय हुआ। पाँच शताब्दियों में लगभग पचास संतों के नाम हमें मिलते हैं जिनमें ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस्लाम धर्म से हिन्दू धर्म में आये हुए लोग, अनेकों स्त्रियों तथा शूद्र और अन्यान्य जातियों के संत भी शामिल हैं। (४) किसी समय महाराष्ट्र में

(४) M. G. Ranade : Rise of the Maratha Power.

विठोवा की पूजा का आरंभ होता है। कन्नड़ भाषा में विष्णु का अपभ्रंश 'विठ्ठु' प्रचलित है। इसी पर से विट्ठल या बिठोबा निकला जान पड़ता है। तेरहवीं सदी के मध्य में इनका प्रधान क्षेत्र पंढरपुर प्रसिद्ध प्राप्त कर चुका था। देवगिरि के यादव राजा के ताम्रपत्र में प्रगट होता है कि भीमार्थी नदी के तट पर विष्णु के पवित्र तीर्थ पौंडरीक क्षेत्र को बेलगांव जिले में एक गाँव दान दिया गया। वर्तमान पंढरपुर भी इसी स्थान पर स्थित है। इसलिये डाक्टर भांडारकर की सम्मति में ये दोनों स्थान एक ही हैं।(५) पौंडरीक नाम उस स्थान पर रहनेवाले पुंडरीक नामक भक्त के नाम पर से चला हुआ जान पड़ता है जो कि विट्ठल—पूजा के प्रवर्तक थे।(६) महाराष्ट्र में कृष्ण-पूजा उत्तर भारत के समान राधावल्लभ रूप के बदले रुक्मणि-पति के रूप में प्रचिलित हुई। पंढरपुर में 'रखुमाई और विट्ठल' की पूजा इस बात का प्रमाण है। इन प्रमाणों से प्रकट होता है कि इस समय पंढरपुर मे बिट्ठल पूजा अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी।

मुकुंदराज और ज्ञानदेव ही महाराष्ट्र के ज्ञानमार्गी भक्ति

---

(५) R. G. Bhandarkar : Vaishanavism and ...

(६) ११८८ ई० के आनन्दी के शिलालेख में विट्ठल रखुमई की मूर्ति मिलती है। १२२७ ई० के एक शिलालेख में 'पढरिय क्षेत्र' तथा 'पुंडलीक मुनि' को एक गांव लोगों ने वर्षाशन के लिए दिया इसका उल्लेख है। इन सबसे महत्वपूर्ण विट्ठल मंदिर का "चौरासी" का शिलालेख सन् १२७३ ई० है जिसमें 'विट्ठल देव राय' की पूजा के लिए बहुत सी रकम देने का उल्लेख है। इसमें रामदेव राय नाम भी उल्लिखित है।

के प्रवर्तक हैं। नामदेव एकनाथ और तुकाराम ने इसका विविध रूपों में प्रचार किया। ये सब बारकरी संप्रदाय के समझे जाते है। इनके उपरांत सन् १६०८ मे समर्थ गुरु रामदास और उनका भास्करी संप्रदाय आता है जो कि रामभक्ति का प्रतिपादक है।

दक्षिण से संतों की गुरु-परंपरा गोरखनाथ और नाथपंथ से घनिष्ट संबंध रखती है।

गुरु परंपरा

नाथपंथ के संस्थापक गोरखनाथ एक अलौकिक पुरुष थे। उनका काल निर्णय अभी ठीक नहीं हुआ है। कोई उन्हें सातवीं सदी में बतलाता है तो कोई तेरवीं सदी में ले जाता है। कोई-कोई भक्त शिष्य तो उन्हें सन् ईस्वी से पूर्व का बतलाते है। श्री० ल० रा० पांगारकर उनका बारवीं सदी में होना निश्चित करते है। गोरखनाथ के मठों का अस्तित्व बंगाल से लेकर काठियावाड़ तक और नेपाल से सिंहल द्वीप तक मिलता है। उनका मुख्य क्षेत्र बंगाल, बिहार, नैपाल, ही में था। महाराष्ट्र प्रांत में भी उनका संचार कम नहीं था।

गोरखनाथ के क्रीड़ाक्षेत्र (विशेषकर नैपाल में) प्रचलित महायान बौद्धमत तथा शैवपंथी योगियों का प्रभाव भी उन पर लक्षित होता है। नाथपंथ के आंतरिक प्रधान तत्व योग विद्या, वैराग्य, तथा अद्वयानंद में और उनके बाहरी चिह्न मेखला, शृंगी, कंठा, कर्णमुद्रा, कौपीन और व्याघ्रांबर आदि में शैव, योग, और बौद्ध तीनों पंथों का प्रभाव तथा समन्वय स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है। अद्वैत सिद्धांत तथा योगमार्ग, ये दोनों नाथ-पंथ की विशेषताएं है। गोरखनाथ ने योग पर अधिक जोर दिया; किंतु, आगे चलकर गाहिनीनाथ ने उसमें कृष्ण भक्ति

का संमिलन कर दिया जो कि आगे चलकर और भी अधिक विस्तृत होती गई। त्र्यंबक पंत और उनके पिता गोविंद राव नाथ गुरुओं के शिष्य थे। उनके पुत्र विट्ठल पंत स्वामी रामानंद के शिष्य हुए। विट्ठल पंत के तीन पुत्र—निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव और सोपानदेव तथा पुत्री मुक्ताबाई थी। ये महाराष्ट्र में भक्ति के चार प्रधान स्तंभ माने जाते हैं। विट्ठल पंत के सन्यासी हो जाने के कारण उनके पुत्र समाज बहिष्कृत कर दिये गए थे; किन्तु अपनी भक्ति और ज्ञान के कारण वे फिर से ब्राह्मण हो गये। निवृत्तिनाथ नाथपंथी गहिनीनाथ के शिष्य हुए और उन्होंने अपने भाई ज्ञानदेव को दीक्षित किया। इस प्रकार इन संतों के द्वारा नाथपंथ की परंपरा उत्तर भारत और महाराष्ट्र में प्रचलित रही। सोपान देव के शिष्य वैशाबा खेचर ने नामदेव को दीक्षा दी और मुक्ताबाई ने चांगदेव को अपना शिष्य बनाया। ज्ञानदेव ही की गुरु-परंपरा में तुकाराम भी बतलाए जाते हैं। ज्ञानेश्वरी में गुरु शिष्य परंपरा का इस प्रकार से उल्लेख है:—

"आदिनाथ शंकर ने जो ज्ञान पार्वती जी को दिया था वही क्षीर सागर निवासी एक मत्स्य के पेट में गुप्त रूप से रहने वाले मत्स्येन्द्रनाथ को प्राप्त हुआ। उन्होंने यह मुद्रा गोरखनाथ को दी। गोरखनाथ ने 'शांभव अद्वयानंद' का यह वैभव गैनीनाथ (गाहिनीनाथ) को दिया। गैनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी कि 'ज्ञान का जो यह ऐश्वर्य शंकर की शिष्य परंपरा से मुझे मिला है वह मैं तेरे स्वाधीन करता हूँ। तू काल ग्रसित जीवों को दुःख-मुक्त करने के लिये उसका विस्तार कर। दयाशील निवृत्तिनाथ को यह आज्ञा है। गुरु निवृत्तिनाथ ने मुझे निमित्त बनाकर इस ग्रंथ (ज्ञानेश्वरी) के जरिये संसार का रक्षण किया है।" (७)

महानुभाव पंथ

ज्ञानेश्वर—नामदेव से दस-बीस वर्ष पूर्व बरार में कृष्णोपासना के इस नवीन पंथ का उदय हुआ। यह पंथ ज्ञानदेव के पंथ के समान ही था। किंतु ज्ञानदेव आदि के समान महाराष्ट्र में इस पंथ का प्रसार अधिक नहीं हुआ। पहिले पंथ के प्रवर्तक ज्ञानदेव तथा चोखामेला आदि संत थे और उनके पंथ का आधार वर्णाश्रम धर्म था। दूसरे पंथ में वर्णाश्रम धर्म से कुछ उदारता थी। शंकर के सन्यास और मध्वाचार्य की भक्ति का मिलाप कर बरार के ऋद्धपुर में चक्रधर ने सन् १३२० ई० में इसकी स्थापना की। इसके प्रवर्तक बरार तथा खानदेश के विद्वान् पंडित थे। यद्यपि इस पंथ के मूल पुरुष गोविंद-प्रभु (सन ११५१ ई० से ११८८ ई०) थे; किंतु इसका प्रचार चक्रधर (जन्म सन ११५१ ई०) के ही द्वारा होने के कारण उन्हीं को इसका प्रवर्तक माना जाता है। नाथपंथ से योग तथा कृष्ण भक्ति और नरसिंह सरस्वती तथा जनार्दन स्वामी से दत्तात्रेय की उपासना इस पंथ ने ग्रहण की।

इसके मुख्य उपास्य श्रीकृष्ण और दत्तात्रेय हैं। चक्रधर ने सन्यास मार्ग पर अधिक जोर देकर स्त्री शूद्रों तक को सन्यास की दीक्षा दी, जिसके कारण वद्दापंथियों ने इनका विरोध भी किया। नागदेवाचार्य (१४३६-१३०५ ई०) इसके मुख्य प्रचारक थे। गोविंद प्रभु के तप, चक्रधर की मेधा शक्ति तथा नागदेव की संघटन शक्ति से यह पंथ बलवान् हुआ। केशवराज सूरि (१२६८ ई०) का 'सिद्धांत सूत्र पाठ' इस पंथ का मुख्य धर्म ग्रंथ अथवा आदि ग्रंथ माना जाता है। इसके अलावा भवगद्गीता और भागवत (विशेषकर दशम स्कंध) को भी ये प्रमाण ग्रंथ मानते हैं। इस पंथ में चार अवतार मुख्य माने जाते हैं—कृतयुग में

हंसावतार, त्रेता में दत्तावतार, द्वापर में श्रीकृष्ण और कलियुग में चक्रधर। इनके विचारानुसार ब्रह्म, माया और ईश्वर एक ही परमेश्वर ये तीन अंश हैं। जीव, देवता, प्रपंच तथा परमेश्वर इसके मुख्य चार तत्व हैं। प्रपंच अनित्य है, देवता अनित्यबद्ध हैं, जीव बद्धमुक्त हैं तथा परमेश्वर नित्य मुक्त है। इसके मत से जीव तथा परमेश्वर दोनों अनंत हैं और दोनों का स्वामि भृत्य संबंध भी अनादि है। देवता भक्ति निम्न कोटि की मानी गई है, केवल ईश्वर विषयक ज्ञान ही तारक है। अहिंसा, सन्यास, सगुण भक्ति, सदाचार, और परोपकार इस पंथ के मुख्य सिद्धांत हैं। निस्संगत अथवा सन्यास में घर द्वार, बंधु बांधव, तथा स्वदेश, स्वग्राम, आदि सभी कुछ इसमें त्याज्य हैं। चारों वर्णों से भिक्षा-याचन करना इसमें विहित है। इसके भिक्षा संबंधी कठोर नियम बौद्ध भिक्षुओं के समान हैं।

यह पंथ महाराष्ट्र में कुछ अप्रिय हो गया था। इसका कारण इसका सन्यास पर अधिक जोर, स्त्री शूद्रों सभी को सन्यास दीक्षा देना, अस्पृश्यता का अभाव आदि बातें थीं। लोगों ने इसे बौद्ध व जैन मतों के समान ही वैदिक धर्म विरोधी समझ लिया था।

महानुभाव और वारकरी संप्रदाय की तुलना

(सन् ११२८-१२६८ ई०)

ऊपर ज्ञानेश्वरी में 'शांभव अद्वयानंद' के वैभव का जो उल्लेख है उससे जान पड़ता है कि ज्ञानेश्वर पर नाथपंथ की परंपरा के द्वारा शंकर के अद्वैतवाद का काफी प्रभाव पड़ा था। उसी तरह मुकुन्दराज ने भी शंकर के अद्वैत तत्वज्ञान ही को मराठी में लिखने का दावा किया है।(८)

(८) शंकरीं कि वरी। मी बोलिलों मराठा वैखरी।
म्हणोनि निर्धारावी चातुरी शास्त्र बुद्धि॥—विवेक सिंधु ७-४७

ज्ञानेश्वर की परंपरा का ऊपर वर्णन हुआ। मुकुन्दराज की परंपरा भी आदिनाथ से ही प्रारंभ होती है।(९) आगे चल कर ज्ञानेश्वर की परंपरा 'वारकरी संप्रदाय' और मुकुंदराज की परंपरा महानुभाव पंथ के रूप में विकसित हुई। दोनों पंथों में कोई अधिक भेद नहीं है। दोनों ही के उपास्य भगवान् श्रीकृष्ण हैं। महानुभाव पंथ के भास्कर और केशव सूरि ने श्रीकृष्णके रूप गुण का जिस प्रकार वर्णन किया है उस प्रकार वारकरी संतों ने भी किया है। दोनों ही के मत में निर्गुण निराकार ब्रह्म श्रीकृष्ण रूप से अवतार लेते हैं; सगुण तथा निर्गुण दोनों ही की दृष्टि में एक हैं। महानुभाव पथ ने मध्वाचार्य के द्वैत मत को स्वीकार किया था। किंतु, अद्वैत मत की धारा इसमें वारकरी संप्रदाय के समान ही बहती है। उपासना के लिए सेव्य सेवक भाव मानते हुए वे जीव तथा परमात्मा की एकता में विश्वास करते हैं।(१०) सत्संग, गुरुसेवा, और नाम स्मरण आदि के संबंध में दोनों का मत एक ही है।

इन सब बातों से पता चलता है कि दोनों ही संप्रदाय भागवत धर्म के अंग हैं तथा दोनों में विशेष कोई अंतर नहीं।

रामानंदी और वारकरी संप्रदाय

महाराष्ट्र के तुकाराम आदि संत जिस मार्ग के अनुयायी थे और जिसका प्रभाव इन पर आरंभ ही में पड़ा वह था महाराष्ट्र का प्रसिद्ध वारकरी संप्रदाय उत्तर भारत के संतों पर रामानंदी

(९) तयांचा शिष्य श्री रघुनाथ। श्री गुण सिंधु। विवेक सिंधु।

(१०) एकु जीव परमात्मा ऐक्य भावितु। एकु सेवक भावे उपासितु। एक भेदाभेद विवर्जितु। राहिले निरालंबी। वत्सहरण आदि गुरू श्री आदिनाथ। तेथूनि श्री हरिनाथ।

संप्रदाय का प्रभाव पड़ा अतः संक्षेप मे इनके मूल सिद्धांतों को जान लेना आवश्यक है। वे ये हैं :—

वारकरी संप्रदाय	रामानंदी संप्रदाय
१ उपास्य—पंढरपुर निवासी श्री पांडुरंग। सगुण निर्गुण की एकता। विष्णु के अवतारों में राम कृष्ण विशेष रूप से मान्य। विट्ठल या गोपाल कृष्ण उपास्य।	१ साकेत निवासी श्री राम ही उपास्य। अवतारों मे राम ही सर्वश्रेष्ठ मान्य। सगुण निर्गुण में अभेद।
२ ग्रंथ—भागवत और गीता, ज्ञानेश्वरी, रामायण तथा वेद शास्त्र पुराण।	२ वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, वेद पुराण तथा स्मृति ग्रंथ।
ध्येय	
३. अभेद भक्ति, अद्वैतवाद ज्ञान और भक्ति की एकरूपता—द्वैताद्वैत का सिद्धांत।	३. विशिष्टाद्वैत का मत। ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता।
साधन	
४. नवधा भक्ति-नाम स्मरण व कीर्तन विशेष।	४. नवधा भक्ति-नाम-रूप लीला व धाम की उपासना।
५. मुख्य मंत्र-राम कृष्ण हरि	५. ओम् रां रामाय नमः।
६. भक्त राज-गरुड़ हनुमान पुंडलीक।	६. गरुड़, हनुमान।
७. आदि गुरु-शंकर। हरिहर में अभेद भावना।	७. वही।
८. मुख्य महंत-नारद, प्रह्लाद,	८. नारद-प्रह्लाद, ध्रुव, शबरी,

ध्रुव, अर्जुन, उद्धव, निवृत्ति ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ता बाई, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम।	जटायु, काकभुशुंडि, रामानुज, रामानंद, नरहरिदास आदि।
९. संतनाम स्मरण— देव व सन्त में अभेद 'जय जय राम कृष्ण हरि' ज्ञान देव नाम देव एका तुका'	९. "श्री मते रामानुजाय" 'श्री राम जय राम जय जय राम' ईश्वर प्राप्ति में संतों का साहाय्य।
१०. पूज्य-संत गो ब्राह्मण अतिथि।	१०. वही।
११. महाव्रत-एकादशी सोम-वार-पढरी की वारी महाशिव-रात्रि।	११. रामनवमी, शिवरात्रि आदि।
१२. महातीर्थ चन्द्रभागा और पंढरी, त्र्यंबकेश्वर आदि।	१२. अयोध्या, मिथिला, काशी।
१३. वर्ज्य - परस्त्री, परधन, परनिंदा, मद्य-मांस, हिंसा	१३. वही।
१४. आचार—वर्णाश्रम धर्म-पालन	१४. वही।
१५. परोपकार व्रत-"सर्वविष्णु मयं जगत्। "विष्णु मय जग वैष्णवां चा कार्य', जगत, जगदीश में अभेद सर्वभूत निवास, वासुदेव की पूजा।	१५. वही। "सीय राम मय सब जग जानी' "सदा सर्व गत सर्व हित जानि करेहु अति प्रेम।"

महाराष्ट्र के संतों में सबसे पहिला नाम ज्ञानेश्वर का आता है जिन्होंने "ज्ञानेश्वरी" नामक गीता पर प्रसिद्ध टीका लिखी

है। परंपरा से ज्ञानेश्वर और नामदेव समसामयिक (११) माने जाते हैं। इससे मेकिनकल तो सहमत होते हैं, किंतु भंडारकर नामदेव के एक शताब्दी बाद ज्ञानेश्वर का उदय मानते हैं।(१२) फर्कुहार नामदेव का समय सन १४०० से १४३० ई० के बीच में सिद्ध करते हैं (१३) और ज्ञानेश्वर को उनके बहुत पहिले उत्पन्न हुआ मानते हैं। डाक्टर मेकिनकल ज्ञानेश्वर को १५वीं सदी के अंत में उत्पन्न हुआ बतलाते हैं। (१४) जो भी हो इन दोनों का महत्व बहुत अधिक है। ज्ञानेश्वर ने संस्कृत पंडित होते हुए भी अपनी मातृभाषा मराठी की मधुरता की प्रशंसा कर उसीमें अपनी ग्रंथ रचना की। ज्ञानेश्वरी की समाप्ति उसी समय हुई थी जब कि अलाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण पर आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर डाला था। शायद इसी कारण उनका महान् ग्रंथ तब तक प्रकाश में नहीं आया जब तक कि पैठन के महान संत एकनाथ (सन् १५८४ ई० से १५९८ ई०) ने उसका पुनरुद्धार नहीं किया। गीता के तत्व ज्ञान को अपनी सरल और सुबोध मातृभाषा द्वारा जनता तक पहुँचाने में इनके ग्रंथ ने बड़ा काम किया।

ज्ञानेश्वर ने निर्गुण ज्ञान और सरस सगुण भक्ति की एकरूपता कर दी है। भक्ति को उन्होंने अभेद भक्ति, अद्वैत भक्ति, ज्ञानोत्तर भक्ति आदि नाम दिए हैं जिससे ज्ञान और भक्ति की एकता ही सिद्ध होती है। उसी प्रकार सगुण और निर्गुण दोनों

---

(११) Indian Interpreter (January 1913)

(१२) Bhandarker. Ibid p. 92

(१३) Farquhar. p. 299

(१४) Indian Interpreter. p. 157.

रूपों की एकता का भी हर जगह प्रतिपादन किया गया है ।(१५) ज्ञान और भक्ति के साथ ही कर्म का भी संबंध कराया है। ज्ञानेश्वरी में कर्म तो है पर उसकी कठोरता नहीं है; उसमें ज्ञान है किंतु, उसका रूखापन नहीं है; भक्ति भी ओत-प्रोत है किंतु उसमें अज्ञान नहीं है। कर्मज्ञान तथा भक्ति तीनों ही उनकी प्रेम की सरसता से सरस हो गये हैं। उनका तत्वज्ञान प्रेम की माधुरी से मधुर हो गया है; और भक्ति को ज्ञान के नेत्र मिल गये हैं। सगुण निर्गुण, द्वैताद्वैत, शैव वैष्णव आदि सभी भेदों को उन्होंने प्रेम सागर में डुबा दिया। जीव ब्रह्म की एकता, उपास्य उपासक की एकता, गुरु शिष्य अथवा श्रोता-वक्ता की एकता, तथा साध्य और साधन की एकता में ज्ञानेश्वरी अद्वितीय है। उसमें धर्म और तत्वज्ञान तथा कवित्व और साहित्य का पूर्ण परिपाक हुआ है।

---

(१५) तुम सगुण म्हणु की निर्गुण रे। सगुण निर्गुण एक गोविंद रे। तेचि भक्ति तेचि ज्ञान। एक विट्ठल चि जाण।

दशम अध्याय

कृष्ण भक्तों की उपासना

बंगाल का भक्त संप्रदाय

बंगाल में राधा कृष्ण उपासना का प्रारंभ माधवेन्द्र पुरी गोस्वामी से पाया जाता है। उनके शिष्य ईश्वरपुरी से श्रीचैतन्य ने उसे प्राप्त किया और चैतन्य के शिष्यों ने उसे तात्विक रूप प्रदान कर पूर्णता को पहुँचाया। "माधवेन्द्र यदि इसके बीज और ईश्वर पुरी अंकुर हैं तो श्रीचैतन्य इस भक्ति वृक्ष के स्कन्ध और अद्वैत तथा नित्यानंद उसकी दो मुख्य शाखाएं हैं।" राधा कृष्ण उपासना भी भिन्न-भिन्न रूपों में होती आई है। चंडीदास अपने को स्वयं राधा मानकर, निंबार्क सखी भाव से और चैतन्य राधा की सखी या सेविका

के भाव से उपासना करते थे। राय रामानंद भी इसी भाव के उपासक थे जिनसे चैतन्य ने यह भाव ग्रहण कर अपने शिष्य रूप और सनातन गोस्वामी को प्रदान किया। रूप, सनातन और जीव गोस्वामी ने इसे तात्विक रूप प्रदान किया। इन गोस्वामियों ने वृंदावन को अपना केंद्र बनाकर तथा बंगाल में नित्यानंद, अद्वैताचार्य श्रीवास तथा नरहरि ने इस उपासना का प्रचार किया। स्वयं चैतन्य देव ने अपनी वृंदावन बंगाल तथा दक्षिण यात्रा के समय इसका प्रचार किया। उन्होंने केवल झारखण्ड की जंगली जातियों ही को अपने मत में परिवर्तित नहीं किया बल्कि काशी के शंकर-मतवादी प्रकाशानंद सरस्वती को भी भक्ति का सिद्धांत स्वीकार कराया जिससे उनका सिक्का सारे उत्तर भारत में जम गया।

भक्ति साहित्य

सन् १५९२ में बङ्गाल से श्रीनिवास, नरोत्तम तथा श्यामानंद वृंदावन गए और वहाँ जीव गोस्वामी से भक्ति शास्त्रों का अध्ययन किया। लौटते समय इनके साथ बहुत सा भक्ति-साहित्य बंगाल भेजा गया जिनका इन्होंने अपने देश में प्रचार किया। इन ग्रंथों में रूप गोस्वामी के "भक्ति रसामृत सिंधु" और "उज्वल नील मणि" जीव गोस्वामी के "गोपाल चंपू" और "शत संदर्भ", सनातन की भागवत (दशम स्कंध) की टीका, गोपाल भट्ट का "हरिभक्ति विलास" तथा कृष्णदास कविराज का "श्री गोविन्द-लीलामृत" और "श्री चैतन्य चरितामृत" मुख्य हैं।

श्री चैतन्य के समय भागवत के अतिरिक्त श्री कृष्ण कर्णामृत और "ब्रह्म संहिता" ही का विशेष प्रचार था जिन्हें वे अपने

साथ दक्षिण से लाए थे। चैतन्य के बाद उनके चरित्र पर लिखे गये "श्री चैतन्य भागवत" आदि ग्रंथों का प्रचार हुआ। इसके बाद बंगाल में वैष्णव कवियों की बाढ़ भी आ गई जिनमें नरोत्तमदास, गोविंददास, ज्ञानदास तथा राय शेखर मुख्य हैं। इन्हें "महाजन" भी कहा जाता है। इन्होंने अपनी पदावली से श्रीकृष्ण और श्रीगौरांग की लीलाओं का प्रचार कर भक्ति आन्दोलन को अभूतपूर्व प्रगति प्रदान की।

विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने, जो १७ वीं सदी के अंत हुये, राधा कृष्ण भक्ति पर अनेक ग्रंथ लिखे। उनके बाद बलदेव विद्याभूषण ने भी अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें ब्रह्मसूत्र पर "गोविंद भाष्य" मुख्य है। अन्य वैष्णव संप्रदायों ने चैतन्य संप्रदाय का महत्त्व तब तक मानना अस्वीकार कर दिया था जब तक उसे वेदांत के अनुसार सिद्ध न किया जाय। जैपुर की वैष्णव परिषद् (सन् १७१८ ई०) में इस बात का आग्रह किये जाने पर एक माह के अंदर बलदेव विद्याभूषण ने यह "गोविंद भाष्य" तैयार कर अपने मत की श्रेष्ठता स्थापित की।

सहजिया संप्रदाय

इसके बाद एक ऐसा समय आता है जब कि गोस्वामियों के विरुद्ध एक मत उठ खड़ा होता है। विश्वनाथ और उन्हीं के समसामयिक रूप कविराज "परकीया गोपी मत" के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। किंतु उन्हीं के बाद "सहजिया" मत चल पड़ता है जो कि तत्त्वज्ञान में गोस्वामियों से एकमत होते हुये भी धार्मिक क्रिया में उनके विपरीत है। गोस्वामियों के "विधि-मार्ग" को छोड़ कर उन्होंने "रागमार्ग" का अवलंबन किया। अपनी साधना के लिये वे परकीया स्त्री को राधा के रूप से स्वीकार कर स्वयं कृष्ण बनकर उनकी लीलाओं का अनुकरण

करते हैं। गोस्वामियों के संयम, नियम तथा आचार-विचार के "विधिमार्ग" के बदले राग ही उनके मार्ग का प्रदर्शन करता है।

चैतन्य मत का विश्वास

श्री चैतन्य मत के अनुसार ब्रह्म अनंत है। वह आदि अंत हीन अव्यय और सर्वव्यापी है। वह अनंत शक्ति और गुणों से युक्त है। उसकी शक्तियों का विस्तार भी अनंत है। बृहत् होने के कारण ब्रह्म का नाम सार्थक है। उसका आकार शक्तियाँ गुण आदि सब बृहत् या महान् हैं। (१) श्रीकृष्ण ही वह ब्रह्म हैं। कृष्ण, वासुदेव, विष्णु, नारायण तथा शिव उसी के रूप हैं। वे सब अनंत अव्यय और अनादि हैं, किंतु कृष्ण की अपेक्षा शक्तियों में अपूर्ण हैं। (२) इसी कारण ये सब कृष्ण के स्वांश हैं और उन्हीं पर निर्भर हैं। यदि ये देवता ब्रह्म हैं तो श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण एक और अद्वितीय हैं। उन्हीं से जगत् की उत्पत्ति होती है। सब कुछ उन्हीं में और वे सभी में हैं। इस प्रकार चैतन्य मत में वेदांत में वर्णित ब्रह्म को श्रीकृष्ण का रूप दे दिया गया है।

यहाँ श्रीकृष्ण मनुष्य रूप से अवतरित होते हैं (३) उनका साकार रूप भी अव्यय और सर्वव्यापी है (४) वे पूर्ण अनंत, अपार्थिव, यौवन संपन्न और परम सुन्दर हैं। (५) इस साकार सीमित रूप में भी वे अपनी शक्तियों के कारण

(१) चैतन्य चरितामृत २-१४ १३
(२) लघु भागवत मृत १-३-२६
(३) चैतन्य चरितामृत १-६-१५
(४) विष्णु पुराण ४-१६-२
(५) चैतन्य चरितामृत २-२१-८३

परब्रह्म हैं। सब परस्पर विरोधी गुणों का उनमें संमिलन है। (६) पुराणों की सगुण और साकार उपासना और चैतन्य मत में यही अंतर है कि उसमें श्रीकृष्ण परब्रह्म के अवतार हैं और इसमें वे स्वयं परब्रह्म स्वरूप हैं।

वेदांत के ब्रह्म के समान श्रीकृष्ण भी सत् चित् आनंद हैं। (७) आनंद उनका असली रूप है और चित् तथा सत् उनके मुख्य गुण हैं। उपनिषदों के ब्रह्म के समान श्री कृष्ण भी 'आनंद रूपममृतं' हैं। सभी प्रकार के आनंद और रस उनमें संमिलित हैं। उपनिषदों में उसे रस रूप (रसो वै सः) (८) कहा है। इसी वाक्य के अनुसार चैतन्य मत में श्री कृष्ण को रस मय माना गया है। रसमय होने ही के कारण वे प्रेममय भी हैं। उनका व्यक्तित्व, रूप, वाणी आदि सब मधुर हैं। जीवों के चित्त आकर्षित करने ही के कारण उनका कृष्ण नाम सार्थक है। इस प्रकार ब्रह्म से यदि उनकी महानता प्रकट होती है तो कृष्ण से उनकी मधुरता। इसी कारण यह नाम भक्तों को अधिक प्रिय हुआ। श्रीकृष्ण अपनी लीलाओं का विस्तार करते हैं। उनके सखा और सखियां भी उन्हीं के रूप हैं। 'आत्माराम' होने पर भी वे सखाओं के साथ लीला करते हैं क्योंकि, वे उनसे भिन्न नहीं हैं:—

आत्मारामोऽप्यरीरमत् (भागवत)

श्रीकृष्ण अपनी लीलाओं, अपने सखाओं और उनकी प्रेम माधुरी के इच्छुक हैं। वे अपने नारायण शिव आदि आंशिक रूपों से भी लीलाओं के प्रेमी हैं।

---

(६) चैतन्य चरितामृत १-४ ११०

(७) भक्ति सन्दर्भ ५ ६

(८) तैत्तरीय उपनिषद् २-७

श्रीकृष्ण तथा उनके अन्य रूपों के लिये अलग-अलग लोकों की कल्पना की गई है जैसे श्रीकृष्ण का गोलोक तथा नारायण का वैकुंठ। ये लोक भी अव्यय, सर्वव्यापी, अपार्थिव और आनंदमय हैं। इन लोकों में श्रीकृष्ण आदि की लीलाएँ सनातन रूप से होती रहती हैं। श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानने के साथ ही उनकी लीलाभूमि गोकुल को भी स्वर्गीय रूप देना स्वाभाविक ही था।

श्रीकृष्ण के प्रेम का अर्थ है—आत्म-विस्मरण और एकांत भाव से सेवा। इस प्रेम और सेवा की गहनता के अनुसार भक्तों के भी चार विभाग किए गए हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांत। उद्धव, श्रीदामा, नंद-यशोदा, और गोपियां क्रमशः इन चारों भागों के प्रतीक हैं। राधा आदि गोपियों में यह स्वर्गीय प्रेम सबसे अधिक विकसित हुआ इसीलिये कांत भाव को महाभाव भी कहा गया है। (९) इस प्रेम में कामवासना का लेश मात्र भी नहीं है (१०) वासना इंद्रियजन्य तथा माया से उत्पन्न है। इसलिये वृंदावन में, जो कि चित् स्वरूप है, इसे कोई स्थान नहीं। (११) व्यक्तिगत आनंद की इच्छा तभी संभव है जब कि दोनों को अपने व्यक्तित्त्व का भान हो। कृष्ण और राधा अपने आपको भूले हुए हैं। इसलिये महाभाव में वह संभव ही नहीं। इस प्रकार श्री चैतन्य ने पार्थिव प्रेम को स्वर्गीय प्रेम में परिणत कर दिया है जिसमें इच्छा वासना, या काम की कोई कल्पना नहीं। काम वासना भी प्रेम ही का एक अंग है। मानस शास्त्रियों के अनुसार वह भी प्रेम का

---

(९) उज्वल नीलमणि (स्थायी भाव ११९)

(१०) उज्वल नीलमणि (सम्भोग ४)

(११) भागवत ३-५-१३

साधन है। किंतु परम प्रेम अथवा इंद्रियातीत प्रेम उत्पन्न होने पर वह कम होते-होते बिल्कुल विलीन हो जाती है। कृष्ण राधा का प्रेम इसी परम प्रेम का रूप है।

लीला के दो रूप हैं—व्यक्त और अव्यक्त। पार्थिव नेत्रोंसे जिस लीला के दर्शन नहीं होते वह अव्यक्त लीला है। किंतु श्रीकृष्ण की कृपा के द्वारा ही उसके दर्शन हो सकते हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये अपनी सखियों के साथ पृथ्वी पर वे अपनी लीलाओं का विस्तार करते हैं और तब वह लीला व्यक्त लीला कहलाती है। अव्यक्त लीला में गोपियाँ श्रीकृष्ण की पत्नियाँ हैं। किन्तु व्यक्त लीला में वे दूसरों की पत्नियाँ हैं। तो भी उनका प्रेम श्री कृष्ण दर्शन के पूर्व भी निरंतर बढ़ता रहता है। कृष्णावतार होने पर उनका निगूढ़ प्रेम फूट पड़ता है। सब लौकिक बाधाओं को तोड़ कर लोक-मर्यादा के दुस्त्यज बाँधों को तोड़ कर वे भगवान् के समीप खिच आती है। (१२) पार्थिव दीखने वाले इस प्रेम में भी ईश्वर प्रेम ही की अभिव्यक्ति है। इस व्यक्त लीला में भी अव्यक्त लीला की निस्संगता कायम है। व्यक्त लीला में दस वर्ष की अवस्था के कुमार श्रीकृष्ण के साथ युवती गोपियों का प्रेम वर्णित है। किंतु वैष्णव काव्यों में युवा श्रीकृष्ण रूप का वर्णन मिलता है जो उनकी अव्यक्त लीला के पूर्ण यौवन प्राप्त श्रीकृष्ण ही का व्यक्त रूप है। गोपियाँ, जो कि श्रुतियों अथवा शक्तियों की अवतार कही गई हैं, उनके साथ परब्रह्म की सनातन अव्यक्त लीला का ही पार्थिव रूप उनकी व्यक्त रासलीला है।

परब्रह्म श्रीकृष्ण की अनंत शक्तियों में से श्रीचैतन्य ने तीन शक्तियाँ मुख्य मानी हैं—स्वरूप शक्ति, माया शक्ति और

---

(१२) भक्ति रसामृत सिंधु

जीव शक्ति। श्रीकृष्ण की लीलाएं स्वरूप शक्ति ही के द्वारा संभव हैं। माया शक्ति से विरोध बतलाने के लिये इसे चित् शक्ति भी कहा गया है। स्वरूप शक्ति के जिस रूप के द्वारा लीलाएं संभव होती हैं उसे लीला शक्ति कहते हैं : और जिसके द्वारा कृष्ण और गोपियाँ अपने असली रूप का भान भूलकर व्यक्त लीला करती हैं, वह योगमाया कहलाती है। स्वरूप शक्ति के तीन और भेद हैं—संधिनी, संवित्, और आह्लादिनी जो कि सत् चित् और आनंद ही के दूसरे नाम हैं। इन तीनों के समन्वय को शुद्ध सत्य कहा गया है। माया शक्ति कृष्ण की वह शक्ति है जो कि अस्वतंत्र होने के कारण बिना श्रीकृष्ण की सहायता के कुछ नहीं कर सकती। यह शक्ति सत रज और तम से युक्त है। प्रकृति तथा प्रधान उसके दो रूप हैं। ईश्वर की सृजन शक्ति के द्वारा जड़ जगत् के रूप में जो प्रगट होती है वह प्रधान शक्ति है; और जो जीवों को पार्थिव शरीर धारण कराती है और उनके ज्ञान पर पर्दा डालती है वह प्रकृति शक्ति है। ये दोनों विश्व की उपादान कारण हैं। उनका मूल कारण तो ईश्वर ही है ; क्योंकि अचेतन प्रकृति अकेले कभी भी विश्व का निर्माण नहीं कर सकती। वेदांत में भी यह मत पुष्ट किया गया है कि अचेतन प्रधान से सचेतन विश्व का निर्माण नहीं हो सकता। (१३) वेदांत में प्रकृति की जिन शक्तियों को विक्षेप और आवरण शक्ति कहा गया गया है उन्हीं को चैतन्य मत में प्रधान और प्रकृति—माया की दो शक्तियाँ—माना गया है। वेदांत में प्रधान और प्रकृति प्रायः एक ही अर्थ में व्यवहृत होते हैं।

जीव शक्ति—संसार के सब जीव ईश्वर की जीव शक्ति से

---

(१३) ब्रह्मसूत्र

उत्पन्न हैं। माया शक्ति और स्वरूप शक्ति दोनों ही के क्षेत्र में एक समान आने के कारण इसे तटस्थ शक्ति भी कहा गया है। जीवों के भी दो भेद माने गये हैं -नित्यमुक्त और नित्यबद्ध। हम देख चुके हैं कि महानुभाव पंथ में जीवों को बद्ध और मुक्त श्रेणियों में माना गया है। चैतन्य मत के अनुसार भी माया के गुणों को आत्मा पर आरोप करने से बंधन, और उसे दूर करने से मुक्ति मानी गई है। इस मुक्ति में भी द्वैत मत के समान जीव और ईश्वर का सदा भिन्न रहना माना गया है।

चैतन्य के अनुयायी वैष्णवों का ध्येय मुक्ति प्राप्त करने के बाद भी अपना व्यक्तित्व अलग रख कर चार प्रकार (दास्य, सख्य, वात्सल्य और कांत) के भावों में से किसी एक के द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा करना ही है। मुक्ति के बाद अपनी इच्छानुसार उक्त रूपों से वह कृष्ण के साथ रहेगा। यदि वह गोपीभाव से गोपियों के साथ रह कर सेवा करने का इच्छुक है तो वह स्वयं गोपी बनकर राधा के साथ रहेगा। अपनी विचार शक्ति के द्वारा मनुष्य चाहे जो रूप धारण कर सकता है। यदि वह ब्रह्मलीन होना चाहे अथवा उससे अलग रहकर सेवा करना चाहे तो वह भी संभव है। इसी कारण हमारे यहाँ चार प्रकार की मुक्तियों का वर्णन है:-सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। जिनके अनुसार जीव ईश्वरके लोक में, उसके समीप, स्वयं उसी के रूप में, अथवा उससे एकाकार हो कर रह सकता है।

चैतन्य, मधुर रति के द्वारा एक युवती गोपी के रूप में राधा की सखी होकर रहने में अपनी कृतार्थता मानते हैं। इसी प्रकार दूसरी रतियों के अनुसार अलग-अलग प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया गया है। (१४) इस भाव में लीन रहने से

---

(१४) भक्तिरसामृत सिंधु १-२-१५१

मनुष्य के सांसारिक भाव विलीन होने पर कृष्ण प्रेम जाग्रत होगा और वह सब बंधनों से मुक्त होकर कृष्ण भक्ति प्राप्त करेगा। किंतु वहाँ तक पहुँचने के लिये भक्तों के लिये एक साधन मार्ग बताया गया है जो कि भागवत की नवधा भक्ति है। (१५) इसमें विश्वास करते हुए भी चैतन्य पांच बातों पर विशेष जोर देते हैं: १ सत्संग २. हरिनाम कीर्तन ३ लीला श्रवण ४. वृंदावन वास ५ कृष्ण पूजा। इन को करते हुये भी सदा यह ध्यान रहना आवश्यक है कि यह सब कृष्ण प्रीत्यर्थ तथा उनके संमुख ही हो रहा है। इन सब साधनों को कृष्णार्पण करना भी आवश्यक है। यदि इन सब का साधन न भी हो सके तो इनमें से एक भी इच्छित फल को प्राप्त कराने में समर्थ है। (१६) सब साधनों की अपेक्षा हरिनाम संकीर्तन पर चैतन्य ने सबसे अधिक जोर दिया है। (१७) उनकी दृष्टि में हरि और हरिनाम एक ही हैं। (१८) इसमें मनुष्य इतना तल्लीन हो जाता है कि इसके स्पर्श से सारी इंद्रियां अपने कार्यों से विमुख हो जाती हैं। (१९)

इस साधन के लिये नम्रता, सहिष्णुता और आदर आवश्यक हैं। अपने को तृण से भी तुच्छ समझना, काटे जाने पर भी वृक्ष के सामान सहिष्णु रहना तथा प्रत्येक जीव में श्रीकृष्ण का निवास समझ कर सब का समान आदर करना इसके मुख्य साधन हैं। पर निंदा, लोभ, मान, ईर्ष्या, तथा स्वार्थ का त्याग.

---

(१५) श्रवण, कीर्तन स्मरण अर्चन वन्दन पादसेवन। दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन

(१६) भक्तिरसामृत सिंधु १-२-१२८

(१७) चैतन्य चरितामृत १-४-६५

(१८) भक्ति रसामृत १-२-१०८

(१९) विदग्ध माधव १-११

संयम, सरलता, सत्यता, संतोष और ईश्वर पर विश्वास आदि-गुण भक्त आचरण के मुख्य स्तंभ हैं। वैष्णव का जीवन सांसारिक सुख भोग के लिये नहीं किन्तु ईश्वर सेवा की तैयारी करने के अर्थ है। वैष्णव के लिये मांसाहार आदि त्याज्य हैं। त्याग और तपस्या आदि आवश्यक नहीं क्योंकि इतसे चित्त कोमल होने के बदले कठोर हो जाता है।(२०)

पूर्णता की प्राप्ति के लिये साधन के सोपान भी निश्चित कर दिये गये हैं जिनका क्रम इस प्रकार है: श्रद्धा, सत्संग, धर्म कृत्य, पाप-शुद्धि और वासनाहीनता, धार्मिक कृत्यों में स्थिरता, उनमें रुचि तथा प्रेम। इस क्रम के हृदय शुद्ध-सत्व के लिये तैयार होता है जिसमें ह्लादिनी-शक्ति की प्रचुरता है। यह शुद्ध-सत्व सबसे पहिले प्रेमांकुर या रति के रूप में प्रगट होता है। यह साधन सोपान भागवत के अनुकूल है। (२१) भक्ति के द्वारा ही गुणों का निराकरण हो सकता है। तम, रज, और सत के क्रमशः निराकरण के बाद शुद्ध-सत्व का उदय होता है।

रति और भक्ति में वही संबंध है जो किरणों और प्रकाश में है। रति के बाह्य लक्षण इस प्रकार हैं:—

(१) सहिष्णुता (२) समय का सदुपयोग (३) सांसारिक आसक्ति से विरक्ति (४) संमान से विराग (५) कृष्ण कृपा में विश्वास, (६) ईश्वर प्रेम से एकत्व प्राप्ति की इच्छा (७) नाम संकीर्तन में रुचि (८) ईश्वर के गुण कथन की कामना (९) उसकी लीला स्थलों के दर्शन की इच्छा।

---

(२०) भक्तिरसामृत सिंधु १-२-१२१

(२१) भागवत २-२५-३२

रति प्रेम के रूप में परिणत होती है जिसमें अपनेपन के भाव का बिल्कुल नाश हो जाता है। प्रेम के द्वारा भक्त पागल सा होकर कभी हँसता, कभी रोता और कभी गाता नाचता है। भागवत में भी भक्त के यही लक्षण बतलाये गये हैं। (२२) प्रेम के क्रम-विकास में सबसे पहले हृदय को द्रवित करने वाला स्नेह उत्पन्न होता है। स्नेह के गहन होने पर भक्त भगवान के केवल दर्शन से संतुष्ट नहीं होता। दर्शन न होने पर उसमें मान का उदय होता है। मान से भगवान के प्रति भय या आदर का भाव कम होकर समानता का भाव उत्पन्न होता है। इस अवस्था को प्रणय कहते हैं। प्रणय से राग उत्पन्न होता है जिसमें कि प्रिय और अप्रिय वस्तुएँ एक बराबर हो जाती हैं। राग से अनुराग की उत्पत्ति होती है जिसमें कि भगवान नित्य नवीन आकर्षक रूप में प्रगट होते हैं। यही अनुराग महाभाव की अंतिम सीमा तक पहुँचता है।

दास्य रति राग तक, सख्य रति अनुराग तक, वात्सल्य रति अनुराग की अंतिम सीमा तक, और मधुर रति महाभाव की पराकाष्ठा तक पहुँचाती है। शांत रति केवल प्रेम तक पहुँच कर रह जाती है। इस कारण चैतन्य मत में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया। शांत भक्त केवल बैकुंठ तक ही पहुँच कर रह जाता है, उसे वृंदाबन में कोई स्थान नहीं। इन्हीं पांच रतियों के अनुसार पांच रसों का भी वर्णन है :—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। रति जितनी गहन होगी, रस भी उतना ही मधुर होगा। इस प्रकार रस की मधुरता शांत रस से आरंभ होती है और उसकी परिसमाप्ति मधुर रस में होती है।

---

(२२) भागवत ११-२-४०

इसके बिना श्रीकृष्ण के माधुर्य और सौंदर्य का अनुभव किसी प्रकार नहीं किया जा सकता।

श्रीचैतन्य ने भी रागानुगा भक्ति द्वारा जनता का हृदय आकर्षित किया। उन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रह्म से भी उच्च स्थान देकर उनके आनंद या रस रूप की उपासना रागानुगा भक्ति के द्वारा करने का प्रतिपादन किया। इसलिये उन्होंने दास्य, सख्य वात्सल्य तथा कांत—इन चार भावों को प्रधानता दी और इन सब की चरम परिणति महाभाव में मानी। गोपियां ही इस महाभाव की सबसे प्रधान आचार्य मानी गईं। अतः गोपी भाव तथा वृंदावन लीला इनके प्राप्तव्य--ध्येय—बन गये। पार्थिव क्षेत्र में लीला व्यक्त है और आत्मिक क्षेत्र में वही अव्यक्त और चिरंतन है। गोपियों में भी राधा सर्वश्रेष्ठ हैं और महाभाव में भी राधा का 'मादन भाव' सर्वोच्च है जो कि संयोग के आनंद में भी विरह के दुःख को अनुभव करती हैं। इस मादन भाव का आनंदानुभव करने के लिये श्रीकृष्ण भी राधारूप धारण करते हैं और श्रीगौरांग के रूप में श्रीकृष्ण और राधा का संमिलितरूप भक्तों को दृष्टि-गोचर होता है।

एकादश अध्याय

संत कवियों की देन—लोक भाषा और लोक-धर्म

साधन-लोक भाषा—जैसे-जैसे धर्म का प्रचार जन साधारण में करने की इच्छा उत्पन्न होती गई वैसे-वैसे जन साधारण की भाषा का आश्रय लेना भी अनिवार्य हो गया। धर्म-प्रचार के उद्देश्य से बौद्धों ने उस समय की लोक भाषा पाली और जैनों ने प्राकृत का आश्रय लिया। इसके बाद दक्षिण के आलवार

और शैव सन्तों ने वहां की लोक भाषा तमिल और तेलुगु में अपने प्रबन्धों और देवरों की रचना की। उसके पश्चात् महाराष्ट्र प्रान्त के संतों ने भी मराठी को अपना वाहन बनाना उचित समझा। सबसे पहिले मराठी भाषा के आदि कवि मुकुंदराज (सन् ११२८-११९२ ई०) ने वेदांत के प्रचार के लिए 'विवेकसिंधु' तथा 'परमामृत' ग्रन्थों की रचना मराठी में करके अपनी वाणी को पवित्र करने के साथ अपने उपदेशों से संसार को भी पवित्र किया :-

म्या आपुली निज वाणी। पवित्र केली इहीं बचनी।
शंकरोक्ति बरी। मी बोलिलों मह्राठी बैखरी।
म्हणूनि निर्धारावी चतुरीं। शास्त्र बुद्धी। (१)

संसार सुखी हो (जग सुखिया होय) इस उद्देश्य से अपने गुरु के आदर्श के अनुसार उन्होंने "परोपकार ही के लिये बोलने के उद्देश्य से (परोपकारार्थ बोलावें) मराठी भाषा में ही ग्रन्थ रचना की। पहिले प्रकरण ही में वे कहते हैं:—

वेद शास्त्राचा मथितार्थु। मह्राठिया होय फलितार्थु।
तरी चतुरीं परमार्थु। कां न ध्यावा ?

लोक भाषा में कविता करने के कारण ये लोग बहुत बड़ी क्षमा-याचना सी करते हैं; क्योंकि उस समय तक संस्कृत में ग्रन्थ रचना ही विद्वत्ता और प्रतिष्ठा के योग्य समझी जाती थी। इसलिये मुकुंदराज एक जगह कहते हैं—"यदि गन्ना ऊपर से काला भी हो किंतु उसका रस तो मीठा है न ? उसी प्रकार मेरे बोल प्राकृत होने पर भी उनमें विवेक भरा हुआ है।"

---

(१)—विवेक सिन्धु पूर्वार्ध ७-४७

तुलसीदास का वचन भी इसी प्रकार है: —

करौं राम जस अस जिय जानी। करन पुनीत हेतु निज बानी।

इसी प्रकार तुलसीदास जी को भी 'ग्राम्य गिरा' (हमारी मातृ-भाषा उस समय उपेक्षा के लिये शायद इसी नाम से पुकारी जाती थी) में कविता करने के लिये लंबी-चौड़ी क्षमा-याचना करनी पड़ी थी :—

स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं तेहिं पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥

मुकुंदराज ने एक दूसरी युक्ति देकर अपने कार्य का समर्थन किया है:—

"यदि कल्पतरु के फल घर ही के झाड़ में फलें तो फिर उन्हें कौन ग्रहण न करेगा ? भाषा चाहे देशी हो या मराठी किन्तु यदि उसमें उपनिषद् का तत्त्व हो तो उसे हम गांठ में क्यों न बांधें ?:—

कल्पतरुचेनि पाड़ें। जरी फलती घरची झाड़ें।
तरी तिये आवडीचेनि कोडें। न लावावी कां ? ॥
देशी हो का म्हाठी। परी उपनिषदाची च राहाटी।
तरी हा अर्थु जीवाचिया गांठी। कां न बांधावा ? ॥

तुलसीदास जी ने भाषा में लिखने का जो कारण दिया है वह भी इसी से मिलता-जुलता है:—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥

उत्तर भारत में रामानंद ने इसका सूत्र-पात्र किया था। आचार्य क्षितिमोहन सेन के शब्दों में "रामानन्द ने इस सहज पंथ में आकर कृत्रिम भाषा संस्कृत को छोड़ दिया तथा सहज कथित भाषा में अपने भाव प्रकाशित किये।" (२)

रामानन्द के शिष्य कबीर ने तो संस्कृत को कूप जल के

(२) 'दादू' : उपक्रमणिका, पृष्ठ-८६

समान दुर्लभ और भाषा को बहते हुए जल के समान सुलभ बतलाया है:-

कबिरा संस्कृत कूप-जल, भाषा बहता नीर।
जब चाहै तबही लहै, होवै सांत सरीर ॥

श्रीयुत सेन महोदय का कथन है कि रामानन्द के बाद कबीर आदि संत निरक्षर थे इसलिए उन्होंने बाध्य होकर भाषा का आश्रय लिया था। किंतु यह बात मुकुंदराज, ज्ञानेश्वर, तथा तुलसीदास आदि संस्कृत के प्रकांड पंडितों के लिए सच नहीं है जिन्होंने केवल लोकोपकार के लिये ही अपनी रचनाएं मातृ-भाषा में की थी।

कभी- भी ऐसा भी हुआ कि विद्वानों ने मातृ-भाषा में ग्रंथ आरंभ करके संस्कृत विद्वानों की दृष्टि में गिरने के भय से संस्कृत में लिखना प्रारंभ कर दिया। केशवराज सूरि ने अपना ग्रंथ "सिद्धांत सूत्र-पाठ" आधा मराठी में लिखने के बाद उसे संस्कृत में भाषांतर करने का इरादा किया। बड़ी कठिनाई से आचार्य नागदेव ने यह कह कर उन्हें इस कार्य से रोका कि "संस्कृत भाषा सामान्य जनों के समझने में कठिन है तथा उसके सीखने में अनेक कठिनाइयां हैं। इसलिए सर्व साधारण में ब्रह्म-विद्या का प्रचार करने के उद्देश्य से मेरे गुरु चक्रधर स्वामी मराठी ही में अपने ग्रन्थों का सृजन करते हैं।"

ये चक्रधर स्वामी महाराष्ट्र में प्रचलित महानुभाव-पंथ के संस्थापक थे। उनके शिष्य नागदेवाचार्य इस पंथ के पहले आचार्य थे जिन्होंने कि मातृ-भाषा में ग्रंथ रचना करने का मार्ग अपने शिष्यों को दिखलाया। इसके फलस्वरूप संवत् १२६३ से १३६३ के बीच में महानुभाव पंथ के पांच छः हजार ग्रन्थों की रचना हुई। उस पंथ के कवियों के हृदय में मराठी के

प्रति जो आदर था वह उनके ग्रंथों में बार-बार प्रगट होता है। 'रुक्मिणी स्वयंवर' के रचयिता नरेंद्र पंडित कहते हैं :—

'जो इस पुण्य पावन मराठी को आदरपूर्वक सुनेंगे उन्हें संसार में कोई कमी न पड़ेगी' :

हे पुण्य पावन मराठी। आइकती आदरें कर्णपुटी।
ते यासी कव्हनी न पड़े कामाठी। संसाराची॥

'ऋद्धिपूर वर्णन' के रचियता नारायण पंडित कहते हैं, 'इसका नाम मात्र मराठी भाषा है, किंतु वह षट् दर्शनों के बीच में कड़ी के समान है। मराठी सरीखे शब्द संसार की किसी भाषा में नही है :—

जेथची नांव त ी महठी। परि षड्दर्शनातें दलवटी।
प्रमेय धांडोलितां सृष्टीं। अर्थाचिना॥

सिद्धांत और भाषा की दृष्टि से ज्ञानेश्वर की बराबरी मराठी वांङ्मय में कोई नहीं कर सकता। 'ज्ञानेश्वरी' में उनका मराठी भाषा का प्रेम ओत-प्रोत भरा हुआ है। इस भाषा पर उनका अगाध प्रेम था। उनके लोकोद्धारक उदात्त विचारों के साथ साथ उनकी भाषा भी अद्भुत, रम्य और भावना प्रधान है। ज्ञानेश्वरी मराठी भाषा की प्रौढ़ता और मधुरता, शांति और निष्ठा तथा विनय और [illegible] की त्रिवेणी है। प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है कि 'चोंच से सागर उलीचने के समान ही उन्होंने मराठी में लिखने का प्रयाण किया है।' वे स्वीकार करते हैं कि उनके गुरु ने उन्हें 'संस्कृत के गहन विचारों को तोड़ कर मराठी भाषा के शब्द सोपानों से इस सरस्वती के घाट को बांधा है। मराठी में गीता आने से सब के लिये मानो कैवल्य द्वार खुल गया,। (२) उन्होंने 'मराठी भाषा रूपी पृथ्वी पर साहित्य-सुवर्ण की

(२) गीता आली मह्लाहिये। सर्वा कैवल्य उघणे—ज्ञानेश्वरी

मानो खान ही खोद दी।' उन्होंने यह कार्य नवीन रूप से आरंभ किया, यह उन्हीं के कथन से सिद्ध होता है। उन्होंने 'मराठी भाषा की नगरी में ब्रह्मविद्या का सुकाल विस्तार किया तथा सारे संसार को भर कर आनन्द के पूर को इतना बढ़ाया कि उसमें सारा संसार समा गया।' (३)

तुलसीदास जी ने भी नम्रतापूर्वक कहा:-

भाषाभनिति मोरि मति थोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी॥

किंतु लोगों के हँसने पर ध्यान न देकर उन्होंने अपने मन के 'प्रबोध' के लिये उसी को वाहन बनाया :

भाषा बद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

उसके मन का प्रबोध तो संस्कृत से भी हो सकता था: यथार्थ में लोक प्रबोध के लिये ही उन्होंने लोक भाषा को ग्रहण किया यह स्पष्ट है। क्योंकि 'सर्वहित' के बिना यह प्रबोध होना असंभव था। इसी कारण एकनाथ महाराज ने लोकभाषा में अपने उपदेश ग्रथित किये। एकनाथ लिखते हैं:—

'आतां संस्कृता अथवा प्राकृता।
भाषा जाली जे हरि कथा॥
ते पावन चि तत्वता। सत्य सर्वथा मान ली॥
(नाथ भागवत

इसका कारण बनाते हुए उन्होंने कहा है:—

---

(३) ये म्हराठियेची नगरी। ब्रह्मविद्या चा सुकाळ करी।
घेणे देणे सुखाची वरी। हो देईं या जागा।
ये महाराठियेची नागरी बोलीं। विशद, सांगोनी दाऊं प्रबंध।
बोनियेचा। ज्ञानेश्वरी, अ० १३, १,१२६

तैसा आविष्कास विस्तारूं। गीतार्थे सु विश्व भरूं।
आनंदाचा आवारूं। मांडूं जागा॥ ज्ञानेश्वरी, अ० १३,१,११११

देवासि नांहीं वचनाभिमान
संस्कृत प्राकृत त्या समान।
ज्या वाणी जाहलें ब्रह्म कथन।
त्या भाषा श्रीकृष्ण सतोषे॥

संतों का साध्य-लोक धर्म—संतों के सिद्धांत संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) इसी जीवन में ऊँच-नीच सभी के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। (२) आत्मिक अनुभव इंद्रिय जन्य अनुभव ही के समान जाँचा जा सकता है। सब युगों के ऋषियों का अनुभव एक समान है। (३) मनुष्य की आत्मा ईश्वर ही का अंश है। आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करना ही ईश्वर-प्राप्ति है। किंतु इस अनुभव के बाद भी जीव ईश्वर से भक्ति के लिये कुछ भिन्न रहता है। (४) ईश्वर की प्राप्ति नैतिक गुणों के आधार ही पर हो सकती है और उसके लिये निष्काम-प्रेम और सर्वस्व त्याग आवश्यक है। (५) आत्मानुभव प्राप्त करने पर भी समाज की सेवा तथा उसकी आत्मिक उन्नति करना आवश्यक है।

इन संतों में से किसी ने कर्मयोग किसी ने ज्ञान-योग और किसी ने भक्तियोग पर अधिक जोर दिया है। किंतु ज्ञानेश्वर और रामदास आदि संतों ने तीनों के समन्वय ही का समर्थन किया है।

साम्य भाव

पुराणों से लेकर सभी संतों की वाणियों में इसी प्रकार के उदात्त भाव मिलते हैं। वैष्णवों का सर्वमान्य ग्रंथ भागवत पुराण भी कहता है:—

विप्राद्विषड्गुणयुतादरविंदनाभ-
पादारविंदविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम ।

इसी भाव को परम वैष्णव भक्त व्यास जी ने अपने छोटे से दोहे में भर दिया है:—

व्यास मिठाई विप्र की तामें लागै आगि।
वृंदावन के श्वपच की जूठन खैये मांगि ॥

एकनाथ महाराज भी इसी का समर्थन करते हैं:

'हा कां वर्णमाजी अग्रणी। जो विमुख हरि चरणी ॥
त्याहूनि श्वपच श्रेष्ठ मानी। जो भगवत्भजनी प्रेमलु ॥'

संत तुकाराम जी की वाणी है :-

'अभक्त ब्राह्मण जको त्याचें तोंड।
काय त्यासी रांड प्रसवली ॥
वैष्णव चांभार धन्य त्याची माता।
शुद्ध उभयतां कुल याती ॥
तुका म्हणे आगी लागो थोरपणा।
दृष्टि त्या दुर्जना न पड़ो माझी ॥'

× × ×

'पवित्र तो कुल पावन तो देश।
जेथे हरिचे दास जन्म घेती ॥'

गोसाईं जी ने इसी भाव से मिलते-जुलते शब्दों में कहा है:-

सो कुल धन्य सखा सुनु,
जगत पूज्य सुपुनीत।
सीय राम पद कमल रत,
जेहि कुल उपज विनीत ॥

संत तुकाराम भी इस साम्य भाव का डंका पीटते हैं:—

'समर्थासी नाहीं वर्णावर्ण-भेद।
सामग्री तें सिद्ध सर्व घरीं ॥

तुका म्हणे सुहृद सोयरा अवाश्यक ।
राजा आणि रंक सारिखे च ॥'

हरि भक्ति के कारण सांसारी दृष्टि से निंद्य मनुष्य भी वंद्य हो जाते हैं: —

'अंगीकार ज्यांचा केला नारायणे ।
निंद्य तेही तेणे वंद्य केले ॥
ब्रह्म हत्याराशी पातकी अपार ।
वाल्मीकि किंकर वंद्य केला ॥
तुका म्हणे येथे भजन प्रमाण ।
काय थोरेपण जालावें ते ॥

इस प्रकार उन्होंने बड़प्पन को तो जला ही डाला है ।

गुसाईं जी ने भी मानस समाप्त करने के पहिले भगवान् से उसी पतित पावनता पर अपना विश्वास टिकाया है :—

पाई न गति केहि पतित पावन, राम भजु सुनु सठ मना ।
गनिका अजामिल गीध व्याध अनेक खल तारे घना ॥
आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघ—रूप जे ।
कहि नाम बारेक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते ॥

तुकाराम जी तो बराबर उसी बात को अनेक आधुनिक उदाहरण दोहराते हैं :—

'अन्त्याजादि भी हरिभजन से तर गये । पुराण उनके भाट बन गये । तुलाधार वैश्य था, गोरा कुम्हार था, धागा और रैदास-चमार थे । कबीर जुलाहा था, लतीफ मुसलमान था, विष्णुदास सेना नाई था, कान्हू पात्रा वैश्या थी, दादू धुनिया था । पर भगवान के चरणों में भगवद्भजन में कोई भेद नहीं ।'

---

(४) तुकाराम चरित्र पृ० २९१

अद्वैत

संत मंडली पर शंकर के अद्वैतवाद का बड़ा प्रभाव पड़ा था। इसके साथ ही भक्ति का उपदेश करना इस संत समाज की विशेषता थी। अद्वैतवाद के साथ भक्ति का जो विरोध समझा जाता था उसे दूर करना इनका मुख्य कार्य था। इसी अद्वैतवाद के आधार पर उत्तर भारत के कबीर आदि संतों ने हिंदू मुसलमानों के भेद भाव को दूर करने को प्रयत्न किया और दक्षिण के संतों ने हिन्दू धर्म के भिन्न-भिन्न वर्णों में एकता स्थापन का उपदेश दिया।

कर्मयोग

इस भक्ति की सिद्धि अपने वर्णाश्रम के अनुसार स्वकर्म करने ही से हो सकती है। इसके फलस्वरूप पहिले जो यह भावना फैली हुई थी कि सन्यास या कर्म त्याग के द्वारा मुक्ति हो सकती है। उसका निराकरण हुआ और इस भावना की पुष्टि हुई कि स्वकर्म ही के द्वारा ईश्वर की सच्ची पूजा हो सकती है, यदि वह ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाये :—(५)

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः। (गीता)

गीता के इस पुराने उपदेश को इन संतों ने फिर से नवीन रूप दिया। इसके साथ ही अपने भरण-पोषण के लिये दूसरे के ऊपर निर्भर रहने का उन्होंने निषेध किया। इस कारण सन्यासी का भेष बनाकर अपना पेट भरने के लिये भिक्षावृत्ति करने का भी निषेध किया गया। इनके लोकधर्म का उद्देश्य था—अंतःकरण की शुद्धि; उसका साधन था भगवत्भजन;

(५) करै जो धरम करम मन बानी।
वासुदेव अर्पित बिय जानी॥ (तुलसी)

और भजन का मर्म है सर्वहित। (६) भजन के साथ सदाचार का भी साधन है जिसमें व्यक्तिगत नैतिक नियमों के साथ सामाजिक नियम भी शामिल हैं। सदाचार के विरुद्ध दंभपूर्ण बाह्याचारोंकी उन्होंने कड़ी निन्दा की और नीति को भी धर्म का एक आवश्यक अंग माना। (७)

सर्वेश्वर की पूजा और उसी के रूप अथवा उसी के बनाये हुए जीवों के प्रति द्वेष, ये परस्पर विरोधी तत्त्व भक्तिमार्ग में रह ही नहीं सकते--ऐसा इन संतों का मत है। इसी कारण अहिंसा अथवा भूत दया इनके भक्तिमार्ग का अभिन्न अंग है। तुकाराम के अनुसार किसी जीव के प्रति मत्सर न करना ही सर्वेश्वर पूजा का कवच है। (८) तुलसीदास जी भी भूत द्रोह को सब पापों से बड़ा पाप समझते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार भूतदया और अहिंसा भागवतों के प्रधान धर्म हो जाते हैं।

व्यक्तिगत दृष्टि से अहिंसा को परम धर्म मानते हुए भी लोक पालन तथा लोक धर्म की दृष्टि से उनमें अपवाद भी हो सकते हैं। सर्वभूतहित अथवा भूतदया ही के लिये उसके विरोधी कुछ लोगों की हिंसा तथा दुष्ट-दलन आवश्यक हो जाता है। व्यक्तिगत गुणों की भी, सामाजिक दृष्टि से, मर्यादा आवश्यक हो जाती है। जन साधारण के लिये दया आवश्यक होते हुए भी, प्रजापालक क्षत्रिय के लिये दंड अनिवार्य हो जाता है। ज्ञानेश्वर ने संग्राम समय की दया को दया का दुरुपयोग

---

(६) अब गृह जाहु सखा मम भजन करेहु दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम॥ (मानस)

(७) राम प्रीति पथ नीति मग चलिय राग रिस जीति।

(८) कोणा ही जीवाचा न घडावा मत्सर। वर्म सर्वेश्वर पूजनांचा॥

करना कहा है। (९) तुकाराम ने हत्या करना क्षात्रधर्म के लिये आवश्यक बताया है। (१०) उन्होंने जीवों का पालन तथा उनके कंटकों का निर्दलन ही दया का अर्थ बतलाया है। अन्यायियों को दंड न देने से निरीह प्रजा को कष्ट होने का महापाप होता है। (११)

इन संतों के विरुद्ध उनकी रचनाओं पर निम्नलिखित बातों पर कुछ लोग आक्षेप करते हैं:—देवतावाद, जग मिथ्यात्व और क्षणभंगुरता, जग का दुःखरूपत्व, संसार की उन्नति के प्रति उदासीनता, परलोक दृष्टि, सहिष्णु देवता की उपासना तथा जगदुद्धार की अव्यवहार्य कल्पना।

दैववाद संसार और परलोक दोनों के लिए समान रूप से प्रभाव डालता है। यदि संत लोग केवल देववाद का ही उपदेश

---

(९) अर्जुन तुझे चित्त। जरी जाहालें द्रवीभूत।
तरी हें अनुचित। संग्राम समयीं॥
अगा गोक्षीर जरी जाहालें। तरी पथ्यासि नाहीं घेतलें॥
ऐसेनिहि विष होय उरलें। नवज्वरीं देतां॥
तैसे आंता आन करितां। नाश होईल हितां॥
(ज्ञा० अ० २ ओ० १८३-८४)

(१०) करी या परी स्वहित। विचारूनि धर्मनीति॥
हत्या क्षात्र कर्म। नव्हे निष्काम तें कर्म॥
पुण्य करितां होय पाप। दुष्ट पाजुनि पोशिला साप॥
तुका म्हणे संतीं। करोनि ठेविली आहुती॥

(११) दयातिचें नाव भूतांचें पालण। आणिक निर्दलण कंटकांचें॥
दंड अन्यायाचें माथा। देखोनि करावा सर्वथा॥
अन्यायासी राजा जरी न करी दंड। बहुत ते दंड पीडिती जना॥
तुका म्हणे संतां करू नये अनुचित। पाप नाहीं नीति विचारितां॥

करते तो साधन मार्ग में पुरुषार्थ का समर्थन न करते। उनका तात्पर्य केवल यह था कि पूर्व कर्मों के अनुसार आज फल भोगा जा रहा है और आज के कर्म के अनुसार आगे भोगना पड़ेगा। तुलसी ने स्पष्ट कहा :—

कर्म प्रधान विस्व करि राखा।

तथा—दैव-दैव आलसी पुकारा।

संसार के मिथ्या और क्षण भंगुर होने की बात मायावाद से प्रभावित होकर कही गई थी। केवल इतने पर से ये संत राष्ट्र विरोधी नहीं कहे जा सकते। इस सिद्धांत से उनका तात्पर्य हाथ पर हाथ रखकर मृत्यु की राह देखना नहीं किंतु आलस्य छोड़ कर्म मार्ग में लग जाना है।

जग के दुःखरूप के संबंध में उनका यही कहना है कि सुख को त्यागकर पुरुपार्थ की ओर बढ़ना चाहिये। इस प्रकार तीन प्रमुख आक्षेपों का खंडन होने पर चौथा आक्षेप-परलोकवाद अपने आप खंडित हो जाता है। प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति ही उनमें अधिक थी, यह कहना ही युक्तिसंगत है। सहिष्णु देवता की उपासना की बात भी नहीं ठहरती। तुकाराम के ऐसे अभंग मिलते हैं कि विष्णु (विठोबा) चक्र, गदा आदि धारण कर भक्तों की रक्षा और दुष्टों का संहार करते हैं।

संत स्वयं संसार से उदासीन होते हुए भी जगदुद्धार की याचना करते है। इससे उनका विश्व जीवों के प्रति अनुराग ही प्रगट होता है। उनकी भक्ति लोक सेवा ही में फलित होती है। जगदुद्धार एक आदर्शवाद होते हुए भी पुरुपार्थी संतों के लिए अव्यवहार्य नहीं। उनके उपास्य सर्व समर्थ ईश्वर के लिये सब कुछ संभव है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	५	जागृति	जागरित
१७	४	है	×
१८	फुटनोट	×	(१)
१६	३	तामिल	तमिल
,,	१६	तैलगु	तेलुगु
२०	२	,,	,
२१	११	वहां	
२७	१६	आलवर	आलवार
२८	१५	शैषों	शैवों
,,	,,	आदिवर	आदियार
,,	२२	तिरू मूलर	तिरुमूलर
३०	११	संबंध	संबंधर
,,	१५	पल्लव	पह्लव
,,	२१	पहिले	पहले
३१	फुटनोट(२८)of Timmangai and Tirumangai		
३५	३	पे	पेरी
,,	२६-२७	नम्मालकर	नम्मालवार
३६	४	पांयड्य	पांड्य
,,	१२	निरुमगाई	तिरुमंगाई
३७	२	नम्मावर	नम्मालवार
३८	१५	कार्य	कर्ता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४३	२३	मारूत	मारुत
४४	७	पास	पाश
४५	२	शिश्नदैवा	शिश्नेदेवा
४६	८	वासव	वसव
४७	१४	लकुलीश	नकुलीश
४८	६	मानते	माने
४६	८	उलेख	उल्लेख
५०	१६	ईशों	इशों
५१	६	शिक्कों	सिक्कों
,,	१७	राज्यो	राज्य
५२	८	कामबोज	काबोज
,,	२१	डाली	डाला
५३	७	कच्छ	कच्छप
,,	१२	कृष्ण	विष्णु
५५	६	शिषिविष्ट	शिपिविष्ट
५६	फुटनोट	श्रीण	श्रीणि
५७	५	दृष्यापक	व्यापक
,,	६	विष्णुकी	विष्णुकी कल्पना
,,	११	धर्म	गर्भ
५६	फुटनोट	×	हुई
६१	१२	बुद्धों	बौद्धों
६२	६	वे	आये
६३	१	चतुर्दिशि	चतुर्दिश
६७	१४	वैशेषिक	वैशेषिक
६८	फुटनोट	श्रेयंपरमवाटस्यथ	श्रेयःपरमवाप्स्यथ
६६	१२	वरां गतिम्	परांगतम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७०	६	थी	की
१११		राजतीति	राजनीति
७१	१४	धर्म	चित्त
,,	फुटनोट ५४	त्व	[illegible]
,,	५६	नेव	नैव
,,	६	केयरे	केयूरे
७२	८	भुद्गन्ती	मार्गन्ती
,,	६	वास्था	वास्या
७३	१७	बोध	बोधि
,,	२२	कौटिलय, लोकयित	कौटिल्य, लोकायित
७४	२०	पराशर्य	पाराशर्यं
७३	१२	अनुभूति	अनुभुति
,,	१४	स प्रादायिक, वृत	सांप्रदायिक, व्रत
७७	१	सर्वात्सा	सर्वात्मा
,,	१७	सम्मलित	×
,,	१८	× पुरान	सम्मिलित पुराण
,,	फुटनोट ६४	वश्या	सश्र
,,	६५	ऐतिहासाः	सेतिहासाः
७८	१	सृष्टि	प्रति
,,	६	थी	भी
७९	७	विडम्बनम्	विडंबनम्
,,	१७	विषद	विशद
८०	४	भुवनय	भवनत्रयं
,,	६	कुरूत	कुरुत
,,	१३	आमत	आत्मा
,,	१७	मीरपम्	मीश्वरम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१८	भते मोठयात	भजते मौढ्यात्
८१	१	खसादय मः	सखादयः
८३	१५	और	रामचन्द्र
८४	११	आतिरक्त	अतिरिक्त
,,	२१	माधव	मध्व
८५	१७	राज	राज्य
८८	१६	अप्रतिष्टि	अप्रतिष्ट
८६	१०	करिका	कारिका
६०	२	भूति	भुति
६५	१४	विशेष्ट	विशिष्ट
६६	२२	वेष्णाव	वैष्णव
६६	३	उमुनिषदो	उपनिषदों
६७	५	के	को
,,	१६	को और	को
,,	,,	भा	भी
१०२	६	अनुगृह	अनुग्रह
१०१	१४	विशिष्टाद्वैत	विशिष्टाद्वैत
,,	२१	माध्वा	मध्व
१०८	८	श्रुत्रियों	श्रुतियों
,,	११	अचिंस्य	अचिंत्य
,,	फुटनोट	तदे जाति	तदेजति
१०६	१७	को	वा
११०	१२	अनुभाष्य	अणुभाष्य
,,	१६	वेष्णा	वैष्णव
११०	२५	माध्व	मध्व
११३	शीर्ष	प्रकरण	अध्याय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११८	५	ब्रह्य	ब्रह्म
११६	१४	शास्त्र	शास्त्र
१२०	६	योगि	योग
१४०	१०	coceyse	coceyx
१४१	८	अंनंत	अनंत
१५०	२२	दशुधा	दशधा
,,	,,	प्रदान	प्रधान
१५२	१४	गिरधार	गिरिधर
१५३	फुटनोट	प्रम	प्रेम
१५५	७	उदीसीनता	उदासीनता
१५६	१६	यकी	तर्का
१५७	३	काय	कार्य
१५६	२२	बन	तब
,,	,,	ईश्वरहै	ईश्वर एक है
१६२	८	में	थें
१६४	२०	के	का
,,	२२	नम्बलवर	नम्मालवार
१६५	१६	आबारा	आचारा
,,	३	ग्रस्त	×
१६६	१८	होइ	होई
,,	२४	जान	धान
१७६	११	संघठन	संघटन
१७८	१	समथ	समर्थ
,,	१५	नैपाल	नेपाल
,,	२१	शव	शैव
,,	२२	यागमाग	योगमार्ग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	२०	गनीनाथ	गैनीनाथ
१८०	२३	भवगद्दीता	भगवद्गीता
१८२	६	श्रीकृस्ण	श्रीकृष्ण
१८४	२०	कार्य	धर्म
१६०	१५	वणित	वर्णित
,,	फुटनोट	भागवत मृत	भागवातामृत
१६१	१२	बाणी	वाणी
१६२	फुट६	उज्वलल	उज्वल
१६३	१०	के	से
१६४	६	सत्य	सत्व
१६५	६	अस्मा	आत्मा
१६६	१६	सामान	समान
१६७	१०	प्रासत्य	प्राप्तव्य
१६६	१०	के	से
२०४	६	ते यासी	तयासी
२०४	११	महठी	मह्राठी
२०४	११	प्रयाए	प्रयास
१०६	अंतिम	च्छुपचं	च्छूवपचं
१०७	१०	अको	नको
१०८	१	अवाश्यक	अनावश्यक